सम्पादक: डा० एडुअर्ड

बुनियादी नक्शीकारी

कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल

लक्ष्मीनारायण लाल को
उनकी 52वीं वर्षगांठ, 4 मार्च, 1979, पर
हिंदी जगत् की ओर से
—सस्नेह भेंट

कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल

सम्पादक: डा० रघुवंश

लिपि प्रकाशन
1, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-2

© 1979, श्रीमती भारती लाल, नई दिल्ली

लिपि प्रकाशन
1, अंसारी रोड, नई दिल्ली-2
मूल्य : रु० 45.00

प्रथम संस्करण : मार्च, 1979

प्रकाशक
लिपि प्रकाशन
1, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002

मुद्रक : शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-32

KRITIKAR LAXMI NARAIN LAL
Ed. by Dr. Raghuvansh
Criticism

रचनात्मक जीवंतता का स्वर

डा० लक्ष्मीनारायण लाल बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न रचनाधर्मी साहित्यकार हैं तथा नाटककार, कथाकार, समालोचक और एक स्वतंत्र चिंतक के रूप में पिछले तीन दशक से भी अधिक समय से साहित्य-रचना में व्यस्त हैं। डा० लाल के व्यक्तित्व और कृतित्व के विविध आयामों पर उनके समानधर्मा प्रमुख साहित्यकारों और साहित्य समीक्षकों ने इस पुस्तक में विस्तार से प्रकाश डाला है। इस पुस्तक का प्रकाशन अनेक अर्थों और संदर्भों में मूल्यवान है। यह न डा० लाल के अभिनंदनार्थ है, न उनके प्रति किसी विशेष आग्रह का फल। यह एक ऐसी अनिवार्यता के प्रति जवाबदेही का परिणाम है जिसके लिए डा० लाल के समकालीन प्रमुख रचनाकारों और साहित्य के अध्येताओं को उनके विषय में सहज मन से और वस्तुपरक ढंग से इस प्रकार एक साथ लिखना पड़ा है। आशा की जा सकती है कि यह पुस्तक शोधग्रंथ, आलोचना, समीक्षा, मूल्यांकन से आगे साहित्य की एक धरोहर सिद्ध हो सकेगी।

भारतेंदु ने अपने युग में नाटक को रंगमंच पर स्थापित करने का प्रयत्न किया था। और तभी से आधुनिक हिंदी नाटकों का इतिहास शुरू होता है। उसके बाद नाटक को रंगमंच से जोड़ने का निरंतर प्रयत्न चलता रहा है। निरंतर यह शिकायत की जाती रही है कि हिंदी में रंगमंच नहीं है, परंतु रंगमंचीय नाटक को विकसित करने का प्रयत्न बराबर चलता रहा है। व्यावसायिक रंगमंच हिंदी में भले ही स्थापित न हो सका हो, पर कलकत्ता, बंबई तथा दिल्ली को मिलाकर सारे हिंदी प्रदेश में हिंदी रंगमंच की खोज चलती रही है। और उसकी उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता।

डा० लाल ऐसे ही नाटककार हैं जो हिंदी रंगमंच के आंदोलन के महत्त्वपूर्ण नेता माने जा सकते हैं। 'अंधा कुआं' तथा 'मादा कैक्टस' से लेकर 'मि० अभिमन्यु' तक लंबी यात्रा में रंगमंच का आधार उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। इलाहाबाद में प्रयाग रंगमंच की स्थापना उनके प्रयत्नों से हुई थी। इस रंगमंच ने हिंदी नाटकों को बहुत बड़ी प्रेरणा दी है; सामाजिक से लेकर प्रयोगशील नाटकों तक के प्रस्तुतीकरण की परंपरा इसमें चलती जा रही है। डा० लाल के दिल्ली चले आने के बाद डा० सत्यव्रत सिन्हा ने प्रयाग रंगमंच की परंपरा को आगे बढ़ाया। डा० सिन्हा डा० लाल के प्रमुख सहयोगियों में थे। उन्होंने अनेक भूमिकाओं में सफलतापूर्वक उतरकर हिंदी के सामाजिकों के सामने नए प्रयोगशील तथा विसंगत नाटक को प्रभावी सिद्ध किया।

डा० लाल ने दिल्ली आकर विस्तृत कार्यक्षेत्र पाया। यहां की नेशनल अकादमी आफ़ ड्रामा से उनका संबंध रहा। उसके प्रसिद्ध निर्देशक अलकाजी से उनका निकट का संबंध रहा है। अन्य अनेक रंगकर्मी संस्थाओं को भी उनका सहयोग मिलता रहा है। महत्त्व की बात है कि दिल्ली विश्वविद्यालय तथा नेशनल बुक ट्रस्ट में कुछ वर्ष कार्य करने के अतिरिक्त डा० लाल अधिकतर दिल्ली में स्वतंत्र नाटककार के रूप में अपना स्थान बनाए हुए हैं। यह अपने आपमें बड़ी उपलब्धि है जो निरंतर उनके संघर्ष की परिचायक है।

लक्ष्मीनारायण लाल कितने बड़े नाटककार हैं, उनकी क्या उपलब्धियां हैं और उन्होंने हिंदी रंगमंच के विकास में क्या कुछ किया है, इन सब प्रश्नों का उत्तर समय और व्यापक स्वीकृति से मिलेगा। पर यह देखा-समझा जा सकता है कि वे निरंतर अपने युग-जीवन से जुड़े रहे हैं, उसकी समस्याओं से टकराते रहे हैं। सामाजिक जीवन को अंदर-बाहर से देखते-परखते रहे हैं। और उन्होंने अपने नाटक और अपना रंगमंच इस क्रम से खोजे हैं। यही कारण है कि उन्होंने अनेक स्तरों पर रचना की है, 'अंधा कुआं' से 'मि० अभिमन्यु' तक लंबी यात्रा की है। उन्होंने हर तरह के प्रयोग किए हैं। पर ये प्रयोग प्रयोग के लिए नहीं, युग-जीवन के हर पक्ष को उजागर करने के लिए हैं। आज उनके रचना-कर्म की सार्थकता उनके इस अनवरत संघर्ष में है, कल उनकी उपलब्धियों को लोग जांचें-परखेंगे। रचनाकार, सच्चे रचनाकार के लिए यह रचनाशील जीवन की सार्थकता ही महत्त्वपूर्ण है। उपलब्धियों की चिंता समाज करता है, उसे करने देना ही अपेक्षित है।

—संपादक

क्रम

पहला आयाम : व्यक्ति

संवादी व्यक्तित्व — **जैनेन्द्र कुमार** 11
जो दिया है — **अज्ञेय** 15
मेरे पथ बंधु — **अमृता प्रीतम** 21
सूर्यमुख अक्षरकार — **वीरेन्द्र कुमार जैन** 23
सत्य का दर्शन कर सकूं — **नेमिशरण मित्तल** 31
लाल का अर्थ — **राजेन्द्र अवस्थी** 38
बसन्त ऋतु — **सरोजनी लाल** 42

दूसरा आयाम : नाटककार

परिप्रेक्ष्य-परिवेश-प्रेरणा — **डा० माहेश्वर** 49
प्रश्न-यक्ष की अंतर्यात्रा — **नर नारायण राय** 65
आत्म-साक्षात्कार करते चरित्रों का संसार — **जयदेव तनेजा** 79
नाटककार लाल की भूमिका — **डा० गिरीश रस्तोगी** 86
'बहुरूपी : बहुरंगी' — **नर नारायण राय** 96
नाट्य भाषा और संवाद — **डा० गोविंद चातक** 108
मिथक और लाल के नाटक — **डा० सिद्धनाथ कुमार** 117
लाल के नाटकों में पौराणिक संदर्भ — **डा० दयाशंकर शुक्ल** 132

तीसरा आयाम : कथाकार

आंतरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रश्न :
मन वृंदावन — **डा० विनय** 147
प्रेम अपवित्र नदी — **डा० नीलिमा सिंह** 154
हरा समुंदर गोपी चंदर — **जैनेन्द्र कुमार** 159
कहानीकार लाल : — **गौतम सचदेव** 160
सरजू तट का पपीहा और चांद की फांकें

पहला आयाम

व्यक्ति

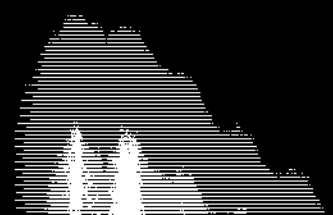

संवादी व्यक्तित्व

जैनेन्द्र कुमार

लक्ष्मीनारायण लाल विधिवत् एम० ए०, डाक्टरेट करके विश्वविद्यालय में अनेक वर्ष शिक्षक रहे। आशा हो सकती थी इस प्रक्रिया से गुजरकर वह सही सीधी लीक पर चलेंगे और जीवन के प्रति प्रयोगात्मक भाव बुझकर उनमें ठंडा पड़ चुका होगा। जानने के जरिए अक्सर जीने का बल मद्धिम पड़ जाता देखा जाता है। पर लाल में ठीक इसका उल्टा हुआ। जीवन प्रवाही है और उसके उत्स में से एक अजस्र और सतत आदर्शवादिता का वेग छूट-छूटकर खुलता रहता है। विद्यालयीन शिक्षा प्रायः उस वेग को बांधकर जीवन में एक मंदता और थिरता ले आती है। साहस कम होने लगता है और भद्रजनोचित सावधानता का अतिरेक हो चलता है। जोखिम उठाने की क्षमता लुप्त हो जाती है और सभ्य-शिष्ट समाज में एक सुख-सुविधा की स्थिति अधिक प्रिय होने लगती है। जैसे डिग्रियां मिलने के बाद इतना तो अधिकार शिक्षित जन को प्राप्त हो ही जाना चाहिए। मोटा वेतन अपरिहार्य है और तदनरूप एक सम्मान का स्थान। पर लाल की जिजीविषा इतने से संतुष्ट नहीं हो सकी। उसका रचनाकार इस सब से घिर नहीं गया, समय पर स्वयं होकर अलग जा खड़ा हुआ और इसी ने महत्त्व अर्जित किया।

अन्यान्य अध्यापकों की भांति उनका लेखन साहित्य समीक्षा से शुरू हुआ (रिसर्च) लेकिन साहित्य की परिभाषाओं से वह समीक्षा सीमित नहीं रह सकी, उत्तरोत्तर वह समीक्षा जीवन के विस्तार की दिशा में व्याप्त होती गई। परिणाम कि शीघ्र ही उन्हें सर्जनात्मक साहित्य में उतर आना या उठ आना पड़ा। जीवन के समक्ष तो एक बीहड़ मैदान है और वहां सुरक्षा का आश्वासन किसी के लिए नहीं है। चारों ओर खुला द्वंद्व है। वहां अपनी सुरक्षा अपने व्यवहार से स्वयं बनानी होती है। वेतन बंधाबंधाया माह के अंत में आपके पास स्वयं नहीं आ जाता, उस अर्थ का आपको उपार्जन करना पड़ता है। आप देते हैं तब कहीं कुछ लेने को मिल पाता है। इसमें समय नहीं बेचा जाता, कोरा श्रम भी नहीं बेचा जाता, असल में बेचा ही कुछ नहीं जाता, केवल सही अर्थों में आत्मदान के द्वारा ही पाया जाता है। आपकी ओर से प्रदान नहीं हो तो उसकी दिशा में अदान प्रेषण की चिंता इस दुनिया में किसी को होने वाली नहीं है।

सर्जनात्मक क्षेत्र की इस अनिश्चित और असुरक्षा को झेलना आसान काम नहीं है। समाज में सब की अपनी-अपनी जगह है। उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, लेकिन लाल जैसे प्रयोगशील लोग अपने आपको सब वर्गों से बाहर बना लेते हैं। यह वर्गविहीनता दूर से लोभनीय प्रतीत हो सकती है, पर भोगने में बड़ी ही कठिन है। लगता है जैसे समाज से आप ठीक-ठीक जुड़े ही नहीं हैं। आप अकेले हैं और चाहे फिर आप समाज के कितने हितैषी हों, यथार्थ में समाज-बाह्य हैं। आपकी रचना लक्ष्मीपति को रिझा सकती है, किसी एक सत्ताधीश को भक्त बना सकती है, पर आपकी पत्नी ही उतनी ही आपकी अभक्त बन जाती है, कारण आप उसकी सहायता के लिए एक नौकर की भी व्यवस्था नहीं कर सकते।

रचनाधर्मिता के साथ लाल में सामाजिकता के बड़े गुण हैं। वे अच्छे मित्र हैं और सहज मित्र हैं। उनमें ग्रंथियों का उत्पात नहीं है और व्यक्तित्व संवादी है। इस आधार पर जीवन-साधन की दृष्टि से शिक्षण के क्षेत्र में सीधे सफलता की ओर बढ़ते चढ़ते जाना उनके लिए कठिन नहीं था। लेकिन तीव्र रचनाशीलता और जिजीविषा वाले व्यक्ति को जैसे कुछ अतिरिक्त भावप्रवण होना पड़ जाता है। यथार्थ की पकड़ के मोह में स्वप्न या आदर्श के आकर्षण से अपने आपको मुक्त किए रखना उसके लिए आसान नहीं होता। परिणाम होता है कि भविष्य की सम्मुखता में वर्तमान का सुख-जीवन उससे छूट जाता है और अपनी ही भौतिक संभावनाओं को स्वाहा करने की मूर्खता उसमें अशक्य नहीं रहती। लाल के साथ भी यही कुछ हुआ।

उनमें रचनात्मक जिजीविषा तनिक भी बंद होती तो यह मूर्खता उन्हें ले बैठती। लेकिन हुआ उल्टा। संसार उनका टूटा या बिगड़ा नहीं, प्रत्युत अधिक समर्थ हुआ। उनकी संभावनाएं अधिक खिलीं और व्यक्तित्व वैयक्तिक से आगे सार्वजनिक हुआ। अभिरुचियां संकीर्ण और एकांगी नहीं रहीं, बल्कि बहुमुखी हुईं। वह अधिक स्वतंत्र समर्थ लेखक और उपयुक्त नागरिक हुए हैं।

मान लीजिए, लाल किसी विश्वविद्यालय में वेतनभोगी विभागीय अध्यक्ष हुए रहते। तब उनकी दृष्टि की व्यापकता दो हजार मासिक आय-व्यय के भीतर घिरी रह जाती। अब हो सकता है सुनिश्चित आय उतनी न हो, पर दृष्टि उस विनिमय भाव की सीमा से उत्तीर्ण है। परिवार के सदस्यों के प्रति वह इस कारण अपने को उनका अन्नदाता नहीं मान पाते, साथी-संगी और सहयोगी ही मानते हैं। उनका एक पुत्र परिवार के लिए धन नहीं, ऋण माना जा सकता है, पर मजाल कि उसके प्रति लाल में स्निग्ध भाव की मात्रा तनिक भी कम हो। मैं उनके घर जाकर आश्चर्य में पड़ा रह जाता हूं कि वह बालक उनके लिए तनिक भी भार नहीं है। उल्टे भगवान की ओर से भेजी गई एक सतत परीक्षा का प्रतीक है, ऐसा लाल मानते हैं। भूलकर भी उनसे कोई कठोर शब्द प्रकट होते मैंने कभी नहीं सुना। पूछने पर सहज ही बताया कि यह तो परिवार का मेहमान है और मेहमान का अधिकार होता है, दायित्व उस पर नहीं रहता।

लाल का लेखन नियमित और अबाध गति से चलता है। सुबह घर से निकल-कर बाहर ही अड्डा बनाकर कहीं लिखते हैं। संध्या समय घर लौटते ही पारिवारिक हो जाते हैं। एक क्षण वे समय को नष्ट नहीं करते। लेखन स्वधर्म कैसे होता है, यह लाल में देखा जा सकता है। यह कोई अतिरिक्त 'डिसिप्लिन' नहीं है। मानो स्वभाव ही हो गया है। और यह कितना सुहावना और विलक्षण है।

नाटक लिखा और छुट्टी पाई, यह सद्भाग्य उनका नहीं है। पाठ्य ही रहने देना होता तो कोरी लेखकी चल सकती थी। पर यदि नाटक दृश्य न बन सके तो उसकी रचना ही क्यों? परिणाम यह हुआ कि अभिनय मंडली खड़ी करनी पड़ी। उस क्षेत्र में यदि आपसी स्पर्धाओं की उलझन है तो भी क्या परवाह। नए मंच का निर्माण कर लेना होगा और लाल है कि नया हिंदी मंच उनके आस-पास खड़ा हो जाता है। अभिनय और अभिनेताओं की व्यवस्था करने तक ही बस नहीं है, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं अभिनेता के रूप में आ उतरना उनके लिए अशक्य नहीं है। अभी उस दिन प्यारेलाल भवन में उनका 'व्यक्तिगत' नाटक प्रस्तुत हुआ। मुख्य चरित्र दो ही थे। पुरुष पात्र 'मैं' और स्त्री पात्र 'वह'। मैं की भूमिका में स्वयं लाल सामने हैं। केवल दो पात्रों के बल पर डेढ़-दो घंटे तक दर्शक दीर्घाओं को, मुग्ध भाव से बांधे रहना आसान काम नहीं है। मूल पाठ तो उसके लिए जीवंत होना ही चाहिए। पर अभिनय तदनरूप न हुआ तो दर्शक उचट जा सकता है। मुझे विस्मय हुआ कि लाल में इस दिशा की दक्षता भी भरपूर है।

अभी पुरुष प्रभुता की झोंक में है तो अगले ही क्षण को पिघल पड़ना है, और तीसरे क्षण अपने पर ही ठठाकर हंस पड़ना। लगातार तीन क्षणों में ये तीन भंगिमाएं ('व्यक्तिगत' नाटक में) कैसे अदा की जा सकती हैं, मैं अब तक समझ पाता नहीं हूं। पर लाल में यह पहली बार संभव होते देखा और अब मैं शंका में रह जाता हूं कि जो सामने होकर दीख रहे हैं वही क्या असल लाल हैं!

मैंने आयु के बहत्तर वर्ष पार कर लिए हैं। यानी लेखक के रूप में एकदम पुराना हो चला हूं। इतना ही नहीं, शायद पुरातनपंथी भी हो सकता हूं। पर सच कहता हूं कि इधर हिंदी रचनाओं में सब कुछ तर्क-संगत और यथार्थ-सम्मत देखता हूं तो बड़ी चिढ़ होती है। जैसे सपने को जिंदगी से काटकर अलग कर देना आधुनिक कहा। भला ऐसा हो सकता है कि ऊटपटांग कुछ हो ही नहीं, सब विहित और वैज्ञानिक हो। आदमी सही-सलामत ज्यामिति की शक्ल में ढाला जा सके तो आदमी बनना उसका निरर्थक ही तो हुआ। इधर लाल के उपन्यासों में और अन्य रचनाओं में मनुष्य और जीवन का जो स्वरूप मिला वह संपूर्णतया बैध नहीं है। उसमें जो यत्र-तत्र अनहोनेपन मिलता है, अतर्क्य भावमिलता है, अव्यवस्था और इतर-तितर जो दिखता है वह मुझे बहुत अच्छा लगता है। मौलिक सृजन का आस्वाद मिलता है। अनुभव होता है जैसे हठात् एक 'अनुकूलन' (एयरकंडीशंड) से छुट्टी मिली है और बाहर की बयार को परस मिल सका है।

मुझे यह असंभव की कशिश अच्छी लगती है। अनिवार्य भी लगती है। उसमें व्यक्ति को बुद्धिमान बनने की आवश्यकता इसलिए नहीं, रहती कि उसे स्वयं और सहज होना है। विवेक की कितनी भी बड़ाई कीजिए, होता है वह द्वंद्वजनित ही। क्या निर्द्वंद्व को जीवन में आने देना रचना में उभरने देना निषिद्ध ठहराया जाएगा ?

मैंने अब तक लाल का जितना कुछ पढ़ा है—'मनवृंदावन,' 'प्रेम अपवित्र नदी,' 'हरा समंदर गोपीचंदर,' 'देवीना' और जितना देखा है—'सूर्यमुख,' 'एक सत्य हरिश्चंद्र,' 'सगुनपंछी,' 'यक्षप्रश्न' और 'व्यक्तिगत', मुझे लाल की निर्द्वंद्वता और रचनात्मक जीवंतता का स्वर भाया है। लाल की वय यों अभी ढलने तक वैसे ही नहीं आई है, पर शायद लाल की मानसिकता में कभी सलवटें आने का कोई कारण मैं नहीं देखता।

वह बंद नहीं है, न अपने में न अन्यान्य में—मत में, वाद में या पक्ष में। प्रतिबद्धता के पालन में शायद विश्वास नहीं है लाल का। स्वीकृतिमुक्त है लाल में, क्योंकि सत्य अनंत है। इस असीम अनंत के स्पर्श में रहकर एकांत कोई बने तो हठ में ही तो बन सकता है। हठ उनमें नहीं है, सतत प्रश्न और जिज्ञासा है। इससे कल्पना में उत्कर्ष और रचना में ताजगी रहती है। यह भला है कि वह घर में टिक नहीं पाते, घर से ज्यादा बाहर में रहते हैं। पर घर है अपने पास, इसलिए बाहर पर अपना अधिकार जमाने, प्रभुता बनाने की चेष्टा की आवश्यकता ही उनमें नहीं है। बाहर आते हैं तो अपने को मिटा देने के लिए और इस पद्धति से बाहर को अपने रिक्त के भीतर लेने के लिए।

इस विधि को उनमें काम करता हुआ देखता हूं और मैं महसूस करता हूं कि लाल ने अपनी महत्तर सृजन भूमि प्राप्त कर ली है। उनका कथाकार, नाटककार अंततः सदा उजागर रह सकेगा। 'देखना' इनकी रचना के लिए बस है। अपने को उस पर थोपना कथारस के लिए अनावश्यक है। इस देखने में ही इस नाटककार के लिए इसकी समस्त लीला है।

जो दिया है

अज्ञेय

मैं जानता रहा हूं कि मेरे बारे में बहुत-से लोगों को तरह-तरह की जिज्ञासाएं रही हैं, जो वे मेरे सामने कभी प्रकट नहीं करते। इस तरह के कुतूहल को 'जिज्ञासा' कहना शायद उसे अतिरिक्त सम्मान देना है; पर वह कुतूहल भी इतना टिकाऊ होता रहा है, इसलिए उसे शांत करना अनावश्यक समझते हुए भी जिज्ञासा का पद देता रहा हूं। जब इलाहाबाद रहता था, तब इस तरह की कुतूहली चर्चा में एक यह भी थी कि भला मुझमें और लक्ष्मीनारायण लाल में क्या समान हो सकता है। गुण-दोष-व्यसन कुछ भी—जिसके कारण हम लोग मिलते-जुलते हैं—मिलने के बाद एक-दूसरे की चर्चा व्यंग्यपूर्वक या 'पेट्रोनाइजिंग' ढंग से नहीं करते? इसका भी मुझे पता था, यद्यपि यह भी मेरे सामने नहीं होती थी—अगर लक्ष्मीनारायण लाल के सामने होती रही (जो संभव है) तो उन्होंने कभी मुझसे इसका जिक्र नहीं किया। फिर भी मुझे पता तो था ही। इस जिज्ञासा को भी अशमित छोड़ देने में मजा आता था, पर और कई जिज्ञासाओं से यह एक दृष्टि से कुछ अलग थी कि यह सवाल मैंने भी कभी-कबाह अपने से अवश्य पूछा होगा। क्योंकि इस बात को अनदेखा करना तो असंभव था कि हमारी रुचियां और हमारे संस्कार बिल्कुल अलग-अलग थे—या इस बात को यों कहूं कि रुचियों-संस्कारों में जहां-जहां भेद था उन स्थलों को अनदेखा करना असंभव था: जब पड़ताल करने लग गए तो ऐसा नहीं था कि बहुत-सी ऐसी समान या मिलती-सी बातें भी न दीखें जिनके आधार पर मिलना-जुलना और परस्पर सम्मान का भाव समझ में आ सकता।

मेरे लिए एक बात—जो उन प्रारंभिक दिनों में उतनी स्पष्ट न थी, कालांतर में ही स्पष्टतर होती गई—महत्त्व की यह थी कि मुझे लगता था कि लक्ष्मीनारायण लाल का साहित्य में—और उस समय के उनके समवयसी साहित्यकारों में—वह स्थान नहीं मिलता था जिसके वह पात्र थे। कभी ऐसा होता है कि रचना के बारे में अवज्ञा का भाव पलटकर रचनाकार पर आरोपित होता है, वहां एक हद तक सही भी हो सकता है, क्योंकि अगर हम किसी काव्य या उपन्यास से प्रभावित नहीं हैं तो उपन्यासकार या कवि को उस रूप में मान देने को बाध्य नहीं है, व्यक्ति के रूप में मान दें या न दें,

यह व्यक्तिगत परिचय के अनुभवों पर आधारित होगा। पर हमारा किसी लेखक के बारे में द्वैध या उभयकारी मनोभाव हो और उसको हम उसकी रचना पर आरोपित करके रचना की अवज्ञा करें, यह मुझे हमेशा अनुचित जान पड़ा है यद्यपि होता ऐसा भी कम नहीं, और इतना अधिक होता है तो उसे 'अस्वाभाविक' भी कैसे कहें। यह प्रक्रिया कैसे लक्ष्मीनारायण लाल के बारे में क्रियाशील रही है। यह स्पष्ट होता गया तो मैं धीरे-धीरे उनके बारे में एक 'पक्षधर' आग्रह अपनाता गया, एक अनुकूल पक्षधरता, क्योंकि मुझे लगता रहा कि व्यक्ति के बारे में उसके मनोभावों का आरोप रचना पर करके बहुत से लोग डा० लाल को उनका स्थान देने से कतराते रहे हैं।

पर, जैसा मैंने कहा, प्रक्रिया का रूप और प्रभाव तो धीरे-धीरे समझ में आया। उस समय वैचित्र्यों के भीतर जिन समानताओं की चेतना मुझे थी उनमें कई इस प्रक्रिया के आरंभ बिंदु से संबंध रखती थीं।

डा० लाल अपने को प्रायः 'देहाती' ठेठ देहाती कहते हैं, अब भी कहते हैं। कभी-कभी कुछ गंवारपन करने की पेशबंदी के रूप में भी कहते हैं। और कहते हैं तो ठीक ही कहते हैं : ऐसी पेशबंदी करना भी तो देहाती संस्कार का एक अंग है। पर वह अपने को कहें, और सही कहें, यह एक बात है, दूसरे, जो कुछ कम देहाती नहीं है या जो थोड़ा-सा कस्बाई संस्कार पाकर अपनी शहरियत का प्रमाण देने का उपाय एक यही जाने कि उनको 'देहाती' कहकर अवज्ञा करें, यह बिल्कुल दूसरी बात है। डा० लाल देहाती थे और अभी मूलतः देहाती हैं, चाहे शहरी जीवन से थोड़ा बौखलाए हुए देहाती, पर मैं जब यह कहता हूं तो जानता हूं कि मैं तो देहाती से भी उन्नीस हूं एक निरा वनचारी हूं जिसे सही अर्थ में जंगली ही कहना चाहिए। (चाहे मैं भी लंबे शहर प्रवास से बौखलाकर हुआ जंगली हूं।)

इलाहाबाद में मिलते-जुलते रहने का यह आधार काफी था—मेरे लिए काफी। लक्ष्मीनारायण जी कस्बे में भी रहे होंगे, और हिंदी के बड़े शहरातियों के शहर इलाहाबाद में रह ही रहे थे, पर इस स्थिति के कारण कोई असहजता उनमें नहीं थी : न उन्हें देहाती होने का असमंजस था, न शहराती रंग-ढंग ओढ़ लेने की कोई उत्सुकता। और न उनकी रचनाओं में भी इस बात को लेकर कोई पोज या पैंतरे दिखाने का भाव झलकता था। उपन्यासों में उनका पहला उपन्यास मैंने पढ़ा था 'धरती की आंखें,' सबसे बाद में पढ़ा है 'मन वृंदावन,' स्वयं उपन्यास लेखक होने के नाते कहूं कि उपन्यास संरचना की दृष्टि से मैं न एक से प्रभावित था, न दूसरे से प्रभावित हूं पर एक दूसरी दृष्टि से (और ऐसा नहीं है कि यह भी उपन्यासकार की दृष्टि नहीं है) दोनों मुझे बड़े रोचक और प्रभावी लगे। और सोचता हूं कि इसीलिए लगे कि इसमें गहरे में कहीं वनचारी देहाती के परस्पर संबंध का भी योगदान था।

वनचारी का अपने परिवेश के साथ रिश्ता वैसा होता है जिसे आज की परिभाषा में 'इकालोजिकल' कहा जाता है : उसका परिवेश बहुत बड़ा नहीं होता पर अभी छोटे से परिमंडल के साथ वह एक परस्पराश्रय का नाता जोड़ता है : न उसमें विरोधी या संघर्ष का भाव होता है, न उपजीवी-उपजीव्य का, न शोषक-शोष्य का : सारी जीवन-प्रक्रियाएं एक संतुलन के वृत्त में अभिमंत्रित होकर साथ-साथ और परस्पर पूरक भाव से चलती हैं। मैं सबके सहारे जीता हूं और ऐसा तभी हो सकता है जब कि सब कुछ को मैं भी जीने का सहारा देता रहूं : वनचारी के अवचेतन में यही जीवन-दर्शन होता है : यही उसका ऋण है। सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः यह आरण्यक, आश्रमिक का ही मूल्य मनोभाव होता है, नागरिक का नहीं।

नागरिक का नहीं—पर देहाती का भी नहीं। ऋण में जीने में कुतूहल नहीं है, अनुकूलन है। और देहाती में प्रबल कुतूहल होता है। परिवेश का सूक्ष्म पर्यवलोकन पर्यवेक्षण वनचारी भी करता है : वही परम्परता और संतुलन का आधार होता है, पर वह कुतूहल नहीं है, और 'अजनबी' या गैर की ओर उन्मुख और केंद्रित नहीं है। देहाती जब किसी को 'अजनबी' या 'स्ट्रेंजर' कहता है तब उसे घूरता है : देर तक घूरता है, उसे असमंजस में डालने तक घूरता है, और उसमें एक निर्णयात्मक भाव होता है जिसे विरोध तो नहीं पर अस्वीकार अवश्य कहा जा सकता है : 'तुम कौन हो जो हमारे नहीं हो ?'

डा० लाल देहाती है—और लगातार अजनबी को घूरते हैं। उपन्यासों में भी। वह लगातार एक के बाद एक रोचक व्यक्ति सामने लाते हैं जो इसलिए रोचक हैं कि गैर हैं : वह बड़े कुतूहल से उसे देखते हैं, दिखाते हैं, हम (यानी मैं अवश्य) इस बात से बड़े प्रभावित होते हैं कि कितनी तरह के लोग वह सामने लाकर, घुमा-फिराकर दिखाते हैं—लेकिन क्या उस खास तरह का घूरना उस देखने-दिखाने में नहीं होता जो देहाती की आंखों में होता है—वह घूरना जिसमें वह अनिमेष आंखों से उसे देखता है जो 'अपना' नहीं है ?

कह गया हूं, तो कहने में यह बात कुछ विरोधयुक्त लगती है : क्या मैं यह कह रहा हूं (उदाहरण के लिए) कि रेणु जो विविध चरित्र हमारे सामने लाते हैं उनकी ओर वह घूरते नहीं, उन्हें उतने 'पराए' जैसे नहीं प्रस्तुत करते कि आंचलिक के पात्र उसके 'अपने' हैं, मगर देहाती के पात्र 'गैर' हैं ? नहीं। 'रेणु' भी कुछ पात्रों की ओर उतने ही निर्मम कुतूहल से घूरते हैं, सब की ओर नहीं। पर एक फर्क है। रेणु (फिर उदाहरण के लिए) 'परती परिकथा' में शुरू में ही परिकथा की संरचना का सहारा लेकर कथावस्तु से एक दूरी पैदा करते हैं। उनके चरित्र शुरू से ही एक प्राक्चरित्र के आयाम में ढलकर आते हैं—आर्केटाइप बनकर और परिकथा का अंत भी जब एक मंचन के दृश्य के साथ होता है तब हमें उस दूरी को विचलित करने का अवसर मिल जाता है : मानो रेणु हमें आरंभ में एक खास दूरी पर ले गए थे और अंत में फिर एक खास दूरी का ध्यान दिलाकर हमें छोड़ गए। हमारा देखना घूरना

नहीं हुआ—उस दूरी से वह घूरना हो ही नहीं सकता था। और डा० लाल के उपन्यास हमारे सामने चरित्र लाते हैं—कितने विविध चरित्र। और हमें घूरने का मौका देते हैं। मौका ही नहीं देते : चरित्र इतने बेबाक ढंग से इतने पास खड़े होते हैं कि घूरने के सिवा रास्ता नहीं रहता। शायद पात्र भी हमें घूरने लगता है—और शायद इसे हम उपन्यास की एक शक्ति मान सकते हैं कि पात्रों का हमें घूरना हमें भी थोड़ा दहला जाए। 'मनबृंदावन' में आरंभ में भी कैसी दूरी रचने की आयोजना है जिसमें चरित्रों को एक आर्केटाइप का आयाम मिले, पर जो भेद है उसके कारण ये चरित्र मनःप्रेत आभासों जैसे तो होते हैं पर प्राक्चरित्र नहीं बनते—फैंटम या फैंटाज़्म-से हमारे मनोमंच पर गुजरते हैं, आर्केटाइप की सत्ता के बल हमें झकझोरते नहीं। मैं स्वयं फैंटम प्रतिमाओं की झांकियों को भी मुग्ध होकर देखता हूं : उनकी रचना मेरे बस की नहीं है इससे और अधिक प्रभावित होता हूं : पर अजनबी अजनबी है और घूरना घूरना, और वनचारी अपने परिवेश को एक ही नजर में भांप लेने का आदी है (और एक तिनके-भर का हिलना या इधर-उधर होना उसी नजर में भांप लिया गया होना चाहिए), जब घूरने की स्थिति होती है तो घूरता तो हूं पर भीतर एक बेचैनी हो आती है···

बहक गया। लेकिन क्या बहुत अधिक? परिवेश के साथ मेरा (वनचारी का) जैसा संबंध है, उसमें मेरे लिए महत्व इस बात का होता है कि परिवेश के साथ अन्योन्याश्रयी भाव से जुड़े बंधे मानव व्यक्ति का विकास कैसे होता है : मेरी दृष्टि का लक्ष्य हमेशा विकासमान व्यक्तित्व है—बनता और रूप लेता हुआ इंडिविजुअल है। छोटा कैनवस, उस पर जैविक इकाई को अपनी अस्मिता को पहचानते हुए क्रमशः एक संपूर्ण संरचना संपन्न व्यक्तित्व बनना। मैं एक इकाई को बनते हुए देखता रह जा सकता हूं : वह बनना मेरे लिए एक अंतहीन अचरज है। डा० लाल इकाई को देखते नहीं रह सकते : उनके देहात की सीमा पर लगातार बाहर के लोग आते रहते हैं और वह लगातार एक के बाद एक को घूरते चलते हैं—और हम भी उनके साथ घूरते हैं और घूरते हुए एक से एक कुतूहली चरित्र को पहचानते चलते हैं। पर जहां मैं एक इकाई को बनते देखता हूं और देखता रह जा सकता हूं वहां डा० लाल अनेक इकाइयों को टूटते देखते हैं और दिखाते चले जाते हैं। उनके उपन्यास ही नहीं, उनके नाटकों में भी हमारी कुतूहली दृष्टि के सामने कतार की कतार टूटते लोगों की आती है—वे कैसे टूटे हैं, कैसे टूट रहे हैं, यही हम लगातार देखते चले जाते हैं। उपन्यासों के बारे में जितनी यह बात सच है, नाटकों के बारे में तो उससे भी अधिक सच है।

मैं उस क्षति को भी पहचानता हूं जिसके कारण एक कोंपल फूटती है, एक कली चटकती है, एक फूल खिलता है या एक पत्री बनती है। और मैं उन शक्तियों

को भी पहचानता हूं जिनके कारण महावृक्षों के जंगल के जंगल काटकर साफ कर दिए जाते हैं—और साफ किए गए मैदान में फिर खेत भी नहीं लहलहाते, घरों की छतें भी नहीं छततीं, कारखाने भी नहीं कराहते, केवल बांझ धरती पड़ी रह जाती है। मैं नहीं कहूंगा कि एक प्रक्रिया दूसरी से अधिक सच है। यह भी नहीं कह सकता कि एक साहित्य में अधिक व्याख्येय है। यह भर कह सकता हूं कि एक को देखना मुझे अधिक अच्छा लगता है, या कि एक का चित्रण मैं अधिक आत्मविश्वास के साथ कर सकता हूं। पर जो वह कर सकते हैं जो मैं स्वयं नहीं कर सकता, उनका सम्मान तो कर सकता हूं, उनके सामर्थ्य की दाद भी दे सकता हूं। लक्ष्मीनारायण लाल के मामले कुछ और अधिक ही, क्योंकि वह निरंतर टूटते आदमियों का चित्र खींचते हुए भी खद टूटे आदमी नहीं हैं : उनमें देहाती की कर्मठता और सहिष्णुता भी है और एक स्वस्थ कर्मरति भी : टूटते आदमी का चित्र और भी खींचने हैं जो अपने को ही टूटते आदमी का प्रतीक पुरुष मानकर आत्मदया में घुले जाते हैं, लक्ष्मीनारायण लाल पर कोई दया दिखाने चलेगा तो वह ठेठ देहाती किस्म की हंसी हंस उसे निरस्त कर देंगे या उतने से भी कोई न संभला तो और भी ठेठ देहाती गाली दे देंगे। (वह बात मैं अनुभव के आधार पर नहीं कह रहा हूं : उसकी मुझे जरूरत नहीं पड़ी क्योंकि वनचारी के सहज बोझ से जानता हूं कि लाल को वह कैसा लगेगा—जिन्हें आजमाना हो आजमाकर देख लें।)

सचमुच यह स्वस्थ मनोभाव स्पृहणीय है और श्रद्धनीय है। इसी के कारण लाल निरंतर नए-नए कार्यों में ऊर्जा व्यय करते चलते हैं और किसी भीतरी स्रोत से नई ऊर्जा पाते चलते हैं और जो काम करते हैं पूरी तरह उसमें डूबकर। तरह-तरह के काम मैं भी करता हूं। बहुत से ऐसे भी जिनके लिए मुझे कुछ भी मिलने वाला नहीं है, सहानुभूति भी नहीं, और जो करता हूं रस कर करता हूं। पर बहुत से काम मैं नहीं भी कर सकता—उनके लायक आत्मविश्वास मुझमें नहीं है। मैं नाटक लिखकर स्वयं एक पात्र की भूमिका में नहीं उतर सकता : लाल मंचन-निर्देशन अभिनय सब कुछ कर लेंगे और अपने उत्साह और आत्मविश्वास के बल पर दूसरे को भी साथ खींच ले जाएंगे। मैंने एक ही नाटिका (तुमा चीज) लिखी थी—वह भी मंच पर आई तो लक्ष्मीनारायण लाल के बल पर ही : उन्होंने टोली जुटाई और अगर कह दूं कि साबुन से धो-धोकर गधों को घोड़ा बना दिया तो इसे अभिनेता-अभिनेत्रियों के प्रति मेरी अवज्ञा न माना जाए, क्योंकि सचमुच ऐसे लोगों से जो हिंदी के दो वाक्य ठीक नहीं बोल सकते थे उनसे भी 'उत्तर प्रियदर्शी' के कुछ तपसाध्य डायलाग बुलवा लिए। अवश्य ही इसमें थोड़ा मेरा भी योग रहा—पर वह तभी संभव हुआ जब लक्ष्मीनारायण जी, साबुन मलने-नहलाने का काम कई दिन कर चुके थे—और टोली तो उन्होंने जुटाई ही थी ऐसे नाटक के लिए जिसे दूसरे चिमटे से भी न उठाते। लिखा मैंने भी आत्मविश्वास के साथ ही था पर लक्ष्मीनारायण ने उसे मंच पर मूर्त्त न कर दिया होता तो वह कभी छपता नहीं और दीखता नहीं।

पर यह प्रशंसा केवल ऋणशोध या कृतज्ञता ज्ञापन नहीं है। मैं सचमुच उस ऊर्जा स्रोत का प्रशंसक हूं। और जैसाकि मैं पहले भी कह आया, मेरी धारणा रही है कि लक्ष्मीनारायण लाल को उनके अवदान का उचित श्रेय नहीं मिला है और यह धारणा अब भी है। इसलिए जहां इन कुछ पंक्तियों द्वारा उनकी अनुशंसा और अभिनंदन करने का अवसर पाकर प्रसन्न हूं, वहां यह और जोड़ देना चाहता हूं कि मेरे खाते यह बात भी उनके पक्ष में है कि उन्होंने जो दिया है उसके बदले में पाया कम है। वय में थोड़ा बड़ा होने का फायदा उठाकर उन्हें आशीर्वाद दूं तो यही कहूं कि हमेशा ऐसा रहे कि जो उन्हें मिले उससे अधिक वह दें : दाता बने रहने का उनका यह ऊर्जा स्रोत अजस्र भाव से बहता रहे। जीवन का संयोग उस देहाती को भी शहर में ले आया है और इस वनचारी को भी, उनके लिए शहर का कुछ आकर्षण भी हो गया है जबकि मेरे लिए अभी तक नहीं बना—पर दोनों को मिलने वाली जो अधिक महत्त्व की बात है वह है उस अजस्र ऊर्जा स्रोत के प्रति अखंड आदर का भाव जिससे हम दोनों ओक भर पीते हैं—पीते हैं, और विस्मय-विमुग्ध होते हैं और फिर ओक भरते हैं।

मेरे पथबंधु

अमृता प्रीतम

लाल, प्यारे दोस्त,

रात आपका उपन्यास 'प्रेम अपवित्र नदी' पढ़कर मुझे पहला ख्याल आया कि आज हमारे देश को सही अर्थों में ऐसे ही उपन्यासों की जरूरत है। देश की गुलामी के वक्त, आजादी के लिए जो जद्दोजहद होती है, उसे दुनिया का इतिहास जानता है। भोगता है। पर आज आजाद देश में हमें आजादी के संग्राम की जो जरूरत पड़ गई है, इस उपन्यास ने उसी की आवाज उठाई है। यह हम कई लोगों का चिंतन है, पर यह पहला उपन्यास है जिसने हमारे भीतर के इस गहरे चिंतन को साहित्य में आवाज बनाया है।

आर्थिक, सामाजिक, मानसिक और राजनीतिक तौर पर चार गुलामियों को भोगती और जूझती तीन पीढ़ियों की यह कहानी कितने बड़े इतिहास को अपने भीतर लिए बैठी है।

इसकी वृजरानी को गले से लगाकर रोने को जी चाहता है। और इसकी शिवानी की हिम्मत के लिए दिल में आदर भर आता है।

आपकी शिवानी सिर्फ एक हालत नहीं, एक दिशा है। और समाज की बंद गलियों में से इंसान को एक दिशा देने के लिए तहेदिल से आपको मुबारकबाद देती हूं।

हां, यह खत लिखते-लिखते आपका दूसरा उपन्यास 'मन वृंदावन' याद में ताजा हो आया है फिर। और बड़ी शिद्दत से वह दिल और दिमाग में घूमने लगा है। जी चाहता है उसकी खूब जी भरके बातें करूं आपसे, खासकर उन किरदारों की जो वृंदावन को एक स्थान मात्र नहीं रहने देते, मन बना देते हैं। और जिनका अकेलापन व्यक्ति सत्य के दर्शन का मार्ग है। बात सिर्फ इतनी ही नहीं, बल्कि वहां तक है जहां बुद्ध आम्रपाली को संग लिए चलते हैं और व्यक्ति सत्य के दर्शन में बाधा नहीं पड़ती।

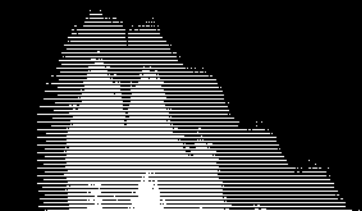

यह कितनी बड़ी बात है कि सत्य और प्रेम के रहस्य को आपकी कलम ने पा लिया है। इस उपन्यास में एक चरित्र है पतितराम जो अपने कफन को फाड़कर आधा कमर में बांध लेता है, धोती के नाम पर और आधा सिर पर बांध लेता है। देखने में यह एक साधारण-सा चरित्र है पर दरअसल यह कितना बड़ा है जिसमें मैंने खुद को देखा है और आपको भी। और दुनिया के कई उन लेखकों को जो अपना कफन तन पर ओढ़े सत्य की खोज में निकलते हैं।

सचमुच इस राह में सामाजिक मान्यताओं के रेशमी वस्त्र साथ नहीं देते।

वे सब उस राह की नजर में झूठे पड़ जाते हैं। कुछ ही किताबें ऐसी होती हैं जिन्हें पढ़कर उन लेखकों को 'पथबंधु' कहने को जी चाहता है। यह 'मन वृंदावन' एक ऐसी ही कृति है और आप ऐसे ही लेखक हैं। आज मेरी ओर से आप 'पथबंधु' का संबोधन स्वीकार करें तो मुझे गौरव होगा।

आपकी,
अमृता प्रीतम

के० 25, हौज खास
नयी दिल्ली-16
5-2-73

सूर्यमुख अक्षरकार

वीरेन्द्रकुमार जैन

लक्ष्मीनारायण लाल का एक नाटक हाल ही में प्रकाशित हुआ है। नाम है 'सूर्यमुख'। यह शीर्षक लाल के सारे कृतित्व और व्यक्तित्व को प्रतीकायित करता है। कहना चाहता हूं कि लाल एक सूर्यमुख रचनाकार हैं। सूर्यमुख वह जिसमें सदा नवोदय करने की सामर्थ्य हो। सूर्य सर्वकाल में एकमेव वही होकर भी, हर ऊषा में नव्य-नूतन होकर सामने आता है। हर दिन वह अपने उदय के साथ सृष्टि में विकास और ताजगी के शत-सहस्र कमल खिला देता है। वह सदा एक नया आरंभ करता है, एक नई पहल करता है।

'सूर्यमुख' नाटक इस पहल का एक समीचीन, प्रतिनिधि और प्रतीक है। कथानक का मूल सूत्र यह है कि कृष्ण का ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न उनकी सबसे छोटी रानी वेनुरती को प्रेम करता है। संबंध से वेनु प्रद्युम्न की विमाता यानी छोटी मां है। इस अपनी छोटी मां के साथ प्रद्युम्न प्रणयपाश में आबद्ध हो जाता है। महाभारत की समाप्ति के बाद, कृष्ण की नारायणी सेना विशृंखल हो जाती है। यादव विजय प्रमत्त होकर आत्मनाश को उद्यत हैं। सर्वशक्तिमान भगवान कृष्ण महाभारत-जयी होकर भी, अपने घर द्वारिका लौटने पर हताश हो जाते हैं। सर्वसमर्थ प्रभु का अपना ही घर ध्वस्त पड़ा है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर उधर मथुरा की ओर जाते हुए कृष्ण जरा नामक एक व्याध के तीर से मारे जाते हैं। द्वारिका प्रलय की डाह में आ पड़ती है। चारों ओर अराजकता छा जाती है। ऐसे संकट की घड़ी में ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न द्वारिका की रक्षा करने या उसका राज्य संगठन करने के बजाय वेनुरती के प्रेम में गाफिल हो कहीं एकांत में पलायन कर जाता है।

तब द्वारिका के विनाश का सारा दोष प्रद्युम्न पर आ जाता है। महारानी रुक्मिनी ईर्ष्या से जलकर अपनी कोख के जाए प्रद्युम्न की शत्रु हो जाती हैं। कहा जाता है कि मां और पुत्र के अवैध प्रणय के कारण ही द्वारिका में धर्म का अपलाप हुआ है। अधर्म का राज्य हो गया है। उसी पाप का घटस्फोट है यह द्वारिका का ध्वंस। जबकि हकीकतन यादवों का प्रमत्त विजयाभिमान ही इस विनाश का कारण था। इस प्रलयानल के बीच लाल ने मां और पुत्र के इस अवैध प्रेम को स्वाभाविक

और अनिवार्य करने की पहल की है। स्त्री-पुरुष के बीच का कोई भी गहरा और अटूट प्रेम एक मौलिक और नैसर्गिक घटना है। वह स्वयं ही अपने औचित्य का प्रमाण और समर्थन है। वह सृष्टि का एक मर्म-निगूढ़ सत्य है। सत्य अमंगल नहीं कर सकता। सृष्टि का मौलिक सत्य सारी सामाजिक मर्यादाओं से बड़ा है। वह तमाम निर्धारित लौकिक संबंधों से बड़ा है। वह अलौकिक है, पारलौकिक है, वह एक अनिवार्य आध्यात्मिक घटना है, जिसे किसी भी तर्क से, किसी भी लौकिक विधान द्वारा नकारा नहीं जा सकता।

चारों ओर से बरसते लांछना के तीरों के बीच घबड़ाकर पुरुष प्रद्युम्न तक अपनी प्राणाधिक प्रिया बल्लभा वेनु के प्यार में पाप और अनौचित्य देखने लगता है। वह वेनु से पलायन करता है। वह बौखला गया है। वह दिग्भ्रमित हो गया है। फिर भी वेनु की प्रीति का जाज्वल्य सत्य रह-रहकर उसमें उल्कापात की टंकार की तरह जल उठता है। वह विवश है वेनु को प्यार करने को, फिर भी वह बाह्य आकृतियों से विचलित हो जाता है। जबकि वेनु अपने तमाम द्वंद्व और संघर्ष के बीच भी अपनी प्रीति के सत्य से ज्वलंत है। वह नारी सृष्टि के नग्न मौलिक सत्य की तरह उजागर जाज्वल्यमान है।

वेनुरती प्रद्युम्न के द्वंद्व का निराकरण करते हुए आत्म-निवेदन करती है : 'हम दोनों में दोनों था (पुरुष में स्त्री, स्त्री में पुरुष)···दोउ···दोउ···दोउ···अब और प्रश्न मत करो मुझसे। अंतःपुर में उस पहले दिन जब तुम्हें देखा था, समर्पित हो गई थी, यद्यपि लज्जित थी, जिस दिन तुम्हारे अंक में सोई थी, यद्यपि घृणा से भरी थी, फिर भी तुम्हें प्यार किया था।···आज (सारे द्वंद्वों से परे) मैं केवल प्रिय हूं··· लज्जित नहीं।···यदु···यदु···।'

इसी संदर्भ में प्रद्युम्न और वेनु का एक छोटा-सा संवाद कितना ग्रंथि-मोचक और उद्बोधक है :

प्रद्युम्न : वह रति कौन है ?
वेनु : जो जन्म-जन्मान्तर में हमें बांधे हैं।
प्रद्युम्न : मैं इस जन्म में तेरा पुत्र था।
वेनु : हर प्रिया मां है।
प्रद्युम्न : हम क्या हैं ?
वेनु : हम इसी क्षण के लिए अब तक जीवित थे।

प्रणय-तत्त्व की इस सर्वोपरिता और अनिवार्यता को सारे द्वंद्व सामाजिक पाशों से परे, लाल ने एक महासत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। विवेचन द्वारा नहीं, सृजन के स्तर पर उत्तरोत्तर संवेदनात्मक साक्षात्कार की प्रतिक्रिया द्वारा। इसी को मैं पहल करना कहता हूं। और सृजन के स्तर पर ऐसे महासत्य का साक्षात्कार करने के लिए, रचनाकार का कवि होना अनिवार्य ही कविता के माध्यम से ही ऐसे गहरे और सूक्ष्म संवेदनों को जीवन में प्रतिकृत किया जा सकता है, संवेदित और प्रत्यायित किया जा

सकता है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। यादवों के पारस्परिक गृह युद्ध में घायल वेनुरती प्रद्युम्न का आवाहन करती हुई कहती है :

> वेनु : रात बीतने को है, सूर्य, मेरे पास आओ। पर्वत-शिखर पर अब बर्फ पिघल रही है। प्रलय मेरी मुट्ठी में है। कमल-कोष में चांद उगने को है। वह मछली अब पंख फैलाए है।

यह टुकड़ा लाल की उत्कृष्ट काव्योपलब्धि का प्रमाण है। इस अति महीन, कोमल, मार्मिक संकेत भाषा में ही, इस मृत्यु के बीच, वेनु अपने प्रणय की सर्जक शक्ति को व्यक्त कर सकती है। कविता के ऐसे अनेक सुडौल नीलम-खंड इस नाटक में अनेक स्थलों पर फैले हैं। लाल के कवि-कथाकार की इस सिद्धि को देखकर मैं स्तब्ध हो गया हूं। मेरे कवि को उनके कवि से ईर्ष्या तक हुई है। उनके कला-शिल्प से मैंने कितना सीखा है, क्या बताऊं। मानव आत्मा के शाश्वत संवेदनों और समस्याओं का ऐसा कलात्मक सर्जन और निरसन आज के हिंदी परिदृश्य में कम ही देखने को मिलता है।

लाल एक समग्रदर्शी रचनाकार हैं। जीवन, जगत और चेतना के सभी संभावित आयाम, उनके सर्जन में आकलित और रूपायित हुए हैं। आज का हमारा साहित्य सामाजिक यथार्थ से आगे नहीं जा पा रहा। वह अधिकांश में एकांगी और एक आयामी है। समस्या इसमें केवल भौतिक, आर्थिक और व्यवस्थागत है। इसी से वह निरी सतही है, मौलिक नहीं। गहराई, ऊंचाई और सूक्ष्मता के आयाम हमारे आज के साहित्य में लुप्तप्राय हैं। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, जैनेंद्र कुमार, कुंवर-नारायण, निर्मल वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती जैसे कुछ विरल ही रचनाकार सत्ता और मानव आत्मा की गहराइयों और सूक्ष्मताओं के उत्तरोत्तर अन्वेषण की दिशा में सक्रिय हैं। युवा पीढ़ी ऐसे रचनाकारों को आउट-मोडेड, प्रतिगामी, अविश्वसनीय, अप्रामाणिक कहने में गर्व अनुभव करती है। लाल के साहित्य में आज का सामाजिक यथार्थ भी अपनी पूरी जटिलता के साथ चित्रित हुआ है, फिर भी उनकी समस्या वहीं समाप्त नहीं। वे आगे बढ़कर समस्याओं के पराभौतिक मूल तक भी जाते हैं। उनकी चेतना 'मेटाफिजीकल' है। यह आज के विरल ही रचनाकारों में पाई जाती है। लाल में यह चेतना सक्रिय है, इसी कारण वे अपने सर्जन में इक्ष्य-सायकालाजी के एक अग्रगामी और गहनगामी रचनाकार के रूप में सामने आते हैं। इस युग का बौद्धिकता से पूर्णतः प्रबुद्ध होते हुए भी, वे अंततः विगत युगों की महाभाव चेतना से प्रज्वलित हैं। इसी कारण उनका साहित्य शाश्वत होने की सामर्थ्य रखता है। अंततः लाल एक समर्थ कवि के रूप में हाथ आते हैं।

लाल के उपन्यास 'प्रेम अपवित्र नदी' में रियालिटी (सत्ता) और रियालिज्म

(वास्तविकता) की यह सुसंगति अपने आपमें उदाहरण और प्रतिमान है। यह उपन्यास एक 'एपिक' (महाप्रबंध) के विराट कैनवास पर रचा गया है। इसमें जीवन-जगत और चेतना के सारे ही संभाव्य आयामों का समावेश हुआ है। इसमें भारतीय इतिहास के तीन संक्रमणशील काल-खंड समाविष्ट हुए हैं। परिप्रेक्ष्य में 1857 का गदर है। उसके पट पर रचा गया है, प्रथम खंड 'चांदनी चौक' : उसमें अवसन्नप्राय मुगल सत्ता की संध्या का उदास उजाला भी है। और ब्रिटिश सत्ता के भारत पर होने वाले आरंभिक अत्याचार भी। अंग्रेजी सत्ता की जड़ें भारत में जमाने में कैसे चांदनी चौक के वणिक सेठ कपूरवाला हथियार बनते हैं, इसका बड़ा त्रिपम चित्रण इस खंड में हुआ है। इसमें ध्वनित होता है, कि हमारे इतिहास में बारंबार वह वणिक ही था, जिसने अपने सौदागरी स्वार्थ की सिद्धि के लिए देश को परदेशी सत्ताओं के हाथ बेच दिया। वह पूरा उपन्यास महाजनी सभ्यता की क्रूरता और अत्याचारों पर एक व्यंग की विकट चीत्कार है।

इस उपन्यास का द्वितीय खंड है 'कनाट प्लेस'। इसमें ब्रिटिश राजसत्ता के जम जाने पर, उसके द्वारा नई दिल्ली में निर्माण को पृष्ठभूमि के रूप में रचा गया है। अंग्रेजों की इस नई दिल्ली का निर्माण वास्तुकार भी उसी चांदनी चौक के कपूर-बाला परिवार का बेटा कुंवर है। देश चाहे जहन्नुम में जाए, नौजवान कुंवर को अपनी दौलत ज्यादा प्यारी है। इस प्रकरण मे एक ओर कपूरवालों जैसे ब्रिटिश राजभक्त सेठों द्वारा जहां परदेशी सत्ता की जड़ें जमाने का काम हो रहा है, वहीं दूसरी ओर स्वातंत्र्य संग्राम के नक्काड़े भी सुनाई पड़ने लगते हैं। यहां वणिक सभ्यता और मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकार स्वतंत्रता का संघर्ष एक गभीर ऐतिहासिक पट पर, भव्य लाक्षणिक प्रतीकात्मकता के साथ चित्रित हुआ है। तृतीय खंड 'गोल्फ लिंक' है : नव-धनाड्यों और नौकरशाहों की नई वैभवशाली कालोनी। इसका निर्माण भी उसी कपूर खान्दान के फर्जंद कुंवर के बेटे विजय के हाथों होता है। ये देशद्रोही सेठजादे ब्रिटिश इमारतों की ठेकेदारी करके अकूत संपत्ति कमाने में बदहवास हैं, जब कि दूसरी ओर देश में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध भारतीय प्रजाएं अपने स्वातंत्र्य अधिकार के लिए जूझ रही हैं।

प्रस्तुत उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि इसके सभी प्रमुख पात्र केवल व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि अपने-अपने ढंग से तत्कालीन समाज-व्यवस्था की पीड़क और पीड़ित, शोषक और शोषित स्थितियों और प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं। वे इतिहास की परस्पर संघटित सुर और असुर शक्तियों की सार्थक इकाइयां हैं। कपूर घराने की छोटी बहू ब्रजरानी परमासुंदरी रूपसी है। उसके पति सूरज कपूर सामाजिक प्रथा-नुसार उसे हरिद्वार के महावीर पंडे को दान करते हैं। उसके बाद महावीर पंडा कपूरवालों की तमाम संपत्ति के मोल भी ब्रजरानी को लौटाने को तैयार नहीं होता। सूरज कपूर झूठे धर्म और झूठी प्रतिष्ठा के भय से ब्रजरानी को पंडे के पास छोड़ घर लौट आते हैं। उनकी भाभी, बड़े मालिक हीराचंद कपूर की पत्नी पिहानीवाली अपढ़

होते हुए भी नारीत्व के इस अपमान के दंश से हाहाकार कर उठती है। वह इस धर्म-भीरुता को धर्म नहीं अधर्म और पाप कहकर अपने देवर और पति बड़े मालिक हरीचंद को धिक्कारती है। नक्काड़े में तूती की आवाज़ ही सही, पर वह आवाज़ उठाती है। पुरुष सत्ताक समाज-व्यवस्था के इस अत्याचार को पिहानीवाली ललकारती है। उधर ब्रजरानी महारानी पंडा के बलात्कारों का अटल भाव से प्रतिरोध करती हुई भीषण आसुरी शक्ति से एकाकी जूझती हुई, अंत तक अपने शील की रक्षा करती है, और मूक भाव से पंडे के सारे अत्याचारों को सहती है। उस काल की अबला नारी एक सत्याग्रही प्रतिरोध के सिवाय और कर भी क्या सकती थी। ब्रजरानी इस तरह एक खामोश विद्रोह और विस्फोट की चंडिका के रूप में सामने आती है। इसी प्रकार एक और स्त्री नंदिता, जो एक राजा की रखेल थी, पुरुषकृत अत्याचार बलात्कारों को सहती हुई एक तपःपूत नारी के रूप में विकसित होती है। इस प्रकार इस उपन्यास से सभी प्रमुख नारी पात्र पुरुष-सत्ताक व्यवस्था के विरुद्ध अबला नारी के एक इतिहास-व्यापी युद्ध की सशक्त और ज्वलंत इकाइयों के रूप में घटित होते हैं।

ब्रजरानी का पुत्र विष्णुपद बड़ा होकर जब अपनी मां की करुण कथा सुनता है, तो वह एक दुर्दांत और जन्मजात विप्लवी के रूप में विकसित होता है। वह इंग्लैंड में जब पढ़ता था, तब उसने वहां ब्रिटिश राजसत्ता के विरुद्ध भारतीय प्रजा के स्वाधीनता संग्राम की गूंज सुनी थी।···वह पढ़ाई छोड़ भारत चला आता है, और स्वतंत्रता सेनानी हो जाता है। वह अपने चिरकाल के राजभक्त खानदान के विरुद्ध विद्रोह ललकारता है। वह अपनी संपत्ति के सारे अधिकारों का त्याग कर घर से अलग हो जाता है। एक दलिता-गोपिता मां के गर्भ से जन्मा यह पुत्र स्ववंश विनाश का ज्वालामुखी बनकर प्रकट होता है। वह समस्त इतिहास की शोषक शक्तियों के विरुद्ध जेहाद ठानता है। उसका मन पराधीन भारत-माता और उसकी पराधीन मां ब्रजरानी से एकाकार हो जाता है।

पूर्व परंपरानुसार कुंवर कपूर की पत्नी शिवानी भी वणिक-सभ्यता के एकांत आर्थिक मानदंड तले पिसती हुई, अपने देवर विष्णुपद से प्यार करने लगती है। अंततः वे दोनों विवाह करके, एक संयुक्त युगल के रूप में राष्ट्रीय स्वतंत्रता और वैयक्तिक आत्म स्वातंत्र्य का युद्ध एक साथ लड़ते हैं। इस प्रकार व्यक्ति पात्रों के भीतर इतिहास की प्रतिवादी शक्तियां बड़े कलात्मक कौशल से इस उपन्यास में मूर्तिमान हुई हैं।

दूसरी ओर हर पात्र अपनी आत्म-मुक्ति के लिए भी संघर्ष करता दीखता है। यह सामाजिक नहीं, वैयक्तिक आत्म-संघर्ष है। यह एक प्रकार से आत्मजय का, अपने ही आपसे उबरने, निष्कांत होने का, एक आध्यात्मिक अंतरयुद्ध है। इस प्रकार लाल केवल इतिहास की अर्थ राज-समाजनीतिक वृत्तियों के संघर्ष पर ही नहीं रुकते, बल्कि प्रत्येक पात्र की आत्मिक वेदना और गहराइयों में भी अधिकतम गहरे उतरने का प्रयत्न करते हैं। इतिहास और पराइतिहास की ऐसी जटिल और संश्लिष्ट संयुक्ति आज की

हिंदी कथा में विरल ही देखने को मिलती है।

यह जो अपने ही साथ चरम युद्ध लाल दिखाते हैं, इसी स्थल पर उनके पात्र एक ऊर्ध्वोन्मुख चारित्रिक पहल करते दिखाई पड़ते हैं। वे सच्चे अर्थ में प्रतिवादी, अतिक्रांतिकारी, एंटी थीसिस के सशक्त प्रतीकों के रूप में प्रकट होते हैं। इन पात्रों में लाल का उत्तीर्ण सर्जक, एक मौलिक चारित्र्यकार के रूप में सामने आता है। वे सच्चे आत्मिक चारित्र्य या सम्यक् चारित्र्य के उत्स तक पहुंचते हैं—अपनी आध्यात्मिक अन्वेषण यात्रा में। वे हर पात्र के सेल्फ या आत्म में ही सच्चे भगवान को उद्घाटित करते हैं। धर्म-अध्यात्म की सारी घिसी-पिटी लीकों का अतिक्रमण कर, वे सर्जनात्मक और संवेदनात्मक मनोविज्ञान और आत्मविज्ञान की राह, प्रत्येक व्यक्ति के भीतर छुपे इस स्वायत्त स्वतंत्र्य और शक्ति के मौलिक उद्गम तक पहुंच जाते हैं। सारी परंपरागत जड़ मर्यादाओं का ध्वंस कर अपने पात्र अपनी आत्मा के, प्रकाश के भीतर से ही नई मर्यादाएं स्थापित करते हैं।

'प्रेम अपवित्र नदी' की ब्रजरानी, पिहानीवाली, शिवानी, नंदिनी, पंचानन चोर, डाकू सरदार, कपूर हवेली का पीढ़ीघर नौकर रामहल्ला, उसका पुत्र मनसुख, और सर्वोपरि रूप से विष्णुपद, आत्मदान और आत्ममुक्ति के चरम तक जाकर अनेक मौलिक चारित्रिक पहल करते दिखाई पड़ते हैं। और इस प्रवृत्ति को लाल ने आरोपित वक्तव्यों के रूप में नहीं आने दिया है, बल्कि पात्रों के गहरे अंतरसंघर्ष में से उन्हें सहज स्वसृजित होने दिया है।

'वसंत की प्रतीक्षा' उपन्यास का अनुपम मिश्र और उसकी प्रेयसी मीनाक्षी भी अपने परिवेशगत तमाम संघर्षों से गुजरते हुए, अपने आत्म के उद्गम तक पहुंचकर पहल करते हैं। सारे जड़त्वों का भंजन कर प्रेम-प्रणय की उन्मुक्त सर्जक राहों पर निकल पड़ते हैं। इस प्रसंग में 'शृंगार' उपन्यास के ये कुछ वाक्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण और मौलिक प्रज्ञा से भास्वर हैं :

'पेरीन ने एक नजर में देख लिया, सारा पार्क श्रीमंत (नायक) है। पार्क पुरुष है। पार्क की सारी प्रकृति पेरीन है। वह फव्वारा सौंदर्य है। आदि सौंदर्य आदिम सौंदर्य। शुद्ध रोमांस।' फिर एक और स्थल पर कहा गया है :

'जो भीतर है, वह बाहर कहां है ? सारा बाहर इस भीतर की लीला है। उसी की आहट है। उसी की प्रतिध्वनि है।' एक और वाक्य : 'जैसे वह उस चट्टान को काटकर, उसे बेधकर उसके रहस्य-लोक के भीतर प्रवेश करना चाहती है।'

और अपने एपिक उपन्यास 'प्रेम अपवित्र नदी' का अंत लाल इस प्रकार करते हैं :

···'दोनों अवाक् देखते रह गए। डा० घोष ने एक दिन पूछा था— ईश्वर या

प्रकृति ने अंत में मनुष्य को क्यों बनाया ? जानवर के बाद मनुष्य ? जानवर में किस तत्त्व की कमी थी, जो मनुष्य में पूरी हुई ? भावना —'इमोशन'—जो सारी संस्कृति की बुनियाद है और इस भावना का चरम तत्त्व क्या है···चरम तत्त्व···?'

और इसी प्रश्नात्मकता पर उपन्यास समाप्त हो जाता है। अपने हर नाटक और उपन्यास के अंत में लाल इसी रहस्यमय चरम तत्त्व का द्वार खटखटाते दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी सर्जक चेतना महज सतही, सामाजिक, ऐतिहासिक नहीं है। वह अंततः पराभौतिक है, पराऐतिहासिक। उनकी हर कथा या नाटक का अंत सीमित मनोव्यथा में नहीं, असीम अनंत की वेदना और पुकार में होता है। ऐसे सैकड़ों काव्यात्मक चिंतनसूत्र उनकी कृतियों से उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है, कि उन्होंने अपना एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन और विश्व-दर्शन, सर्जनात्मक संवेदन के भीतर से साक्षात्कारित और अर्जित किया है। परंपरागत आध्यात्म का उन्होंने अनुसरण नहीं किया। उसके मौलिक स्वरूप को अपने में आत्मसात करके उसमें से अपने लिए अपना एक स्वतंत्र आलोक पथ प्रशस्त किया है। व्यक्ति के अपने आपसे और अपने अभिनिवेशों तथा संस्कारों से मुक्त होने को ही उन्होंने आत्ममुक्ति कहा है। प्रकृति में विद्यमान सहजता ही उनके मन सच्चा जीवन धर्म है। लोक में प्रेम को अपवित्र कही जाती नदी ही, उनके मन सच्चे अर्थ में पतित-पावनी गंगा है। नदी की तरह धारावत सहज हो जाना ही उनके मन व्यक्ति की चरम मुक्ति है। वह चरम युक्ति भी है।

नर-नारी संबंधों को भी लाल ने डी० एच० लारेंस, शरच्चंद या हमारे अपने जैनेंद्र या वात्स्यायन की तरह ही नए सिरे से परिभाषित किया है। यौन और काम को उन्होंने प्रेम के विरोध में नहीं खड़ा किया है। प्रेम की आत्यंतिक देहाभिव्यक्ति ही उनके लेखे काम या सैक्स है। वह रूढ़ अर्थों में बाहर से अपवित्र दीखकर भी, अपनी असलियत में आत्मदान की शुद्ध होमाग्नि है। बाहरी सामाजिक, कौटुंबिक संबंध अंतिम नहीं हो सकते। अंतिम है, सारे संबंधों से परे नर-नारी के बीच का विशुद्ध प्रेम और काम संबंध। चिरंतन नर-नारी का यह युगल, समाज-मर्यादाओं से ओझल नेपथ्य में, अपनी जगह अपने स्वतंत्र आत्मिक तर्क से संचालित है। विशुद्ध नर, विशुद्ध नारी, चिरंतन पुरुष, चिरंतन नारी का मिलना साक्षात्कार और सर्जनात्मक संयोजन ही मानो इस समस्त सृष्टि प्रकृति का एकमात्र चरम उद्देश्य और मिशन है। एक ऐसी वासना जो अपनी देह-सीमा से रमण करती है। प्रश्न, विकल्प, द्वंद्व से परे बेहिचक नर-नारी मिथुन का साक्षात्कार लाल के सृजन की एक भव्य उपलब्धि है।

उनके ये स्वेराचारी स्त्री-पुरुष व्यभिचारी या उच्छृंखल नहीं लगते, वे अत्यंत

गंभीर समर्पण, और अग्नि-स्नान से पवित्र लगते हैं। यह लाल के सर्जक कलाकार के उदात्त चारित्र्य बोध का द्योतक है। तब यह कहना अत्युक्ति न होगी, कि लाल ने हिंदी को नर-नारी संबंध का एक नूतन मौलिक नीति-विधान प्रदान किया है। उनके पात्रों में निरंतर नव्यमान युग के स्त्री-पुरुषों की संभाव्य मूर्तियां ढली हैं। और अंत में, नाटक 'यक्ष-प्रश्न' के अंत में यक्ष कहता है :

'प्यास चाहे जितनी हो उत्तर देना होगा
काल प्रश्न के सामने उत्तर देना होगा
प्रश्न-चिह्न बनकर तुम कब तक रहोगे जिंदा
प्यास बुझानी है तो उत्तर देना होगा।
जल का स्वामी जल का प्यासा है, यह करुण कहानी :
कब तक रहोगे बनवासी तुम, यह कैसा बनवास हमारा :
जल से प्रश्न बड़ा है, उत्तर देना होगा।'

ये पंक्तियां आधुनिक हिंदी साहित्य के एक शीर्षस्थ कलाकार की क्लासिकल प्रज्ञा का एक ज्वलंत हस्ताक्षर हैं। यहां वे हमारे ऋषि-पूर्वजों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से जुड़े हुए हैं।

जीवन की अर्धशती पार कर हमारा यह एक अनोखा अलबेला अक्षरकार, जिस भूमा-राज्य का द्वार खटखटा रहा है, वहां एक दिन वह सर्वोच्च प्रज्ञासन पर आरूढ़ हो, यही मेरी अंतरतम प्रार्थना है। आगामी युग की अर्गला खोलने वाला यह चारित्रिक साहसिक पहलकार, मुझे अपनी सर्जन यात्रा में अकस्मात एक संगी के रूप में प्राप्त हो गया, इसे मैं अपनी एक महामूल्य मानवीय उपलब्धि मानता हूं। उन्हें अपने से बड़ा कलाकार कहने में मैं गौरव अनुभव करता हूं।

सत्य का दर्शन कर सकूं

नेमिशरण मित्तल

लक्ष्मीनारायण लाल हिंदी साहित्य की एक प्रख्यात हस्ती हैं, उन्हें देश के पढ़े-लिखे लोग खूब जानते हैं। लाल के विषय में सोचने लगा तो चेतनापटल पर पिछले 24 वर्षों की परिधि में फैला आत्मीय संबंध घूमने लगा, मगर यह आत्मीयता शुद्धतः वैचारिकता के स्तर पर रही और इसमें उन गंभीर मतभेदों ने कभी दरार नहीं डाली जो हमारे बीच पैदा होने स्वाभाविक थे। मेरा यह सौभाग्य है कि इस लंबी अवधि के भीतर मुझे लक्ष्मीनारायण लाल को गहराई से देखने और समझने का अवसर मिला।

बात 1953 की है। मैं उन दिनों एम० एम० कॉलेज चंदौसी (उ० प्र०) में राजनीति विज्ञान पढ़ाता था, तभी लाल वहां हिंदी विभाग में आए। कोई डेढ़ साल हम लोग साथ रहे, उसके बाद मैं नौकरी छोड़कर भूदान के काम में निकल गया। उस बीच हमें कोई चीज़ खींचती थी, लेकिन हम बहुत करीब नहीं आ पाते थे। उसके बाद 1964 में मैं पढ़ने-लिखने के विचार से दिल्ली चला आया, तभी किसी ने कहा कि डा० लक्ष्मीनारायण लाल दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे हैं। घर का पता पूछकर उनसे मिलने गया। प्रेम से मिले, मगर उस मुलाकात में भी हमारे दिल नहीं खुले, परिचय ताजा हो गया, यानी काल हमें समीप ला रहा था।

फिर तो हम मिले 1972 में। मैं उन दिनों देश में घूमने निकल पड़ा था। अक्तूबर का महीना था, एक दिन दोपहर में दिल्ली के ईस्ट पटेलनगर के बाजार में से गुज़र रहा था कि सामने से आते हुए डा० लाल मिल गए। उस दिन का मिलन हमारे असली मिलन की शुरुआत था। हमने एक दूसरे को अपने-अपने विचार और कर्म के बारे में बताया, और दिल्ली के मेरे उस प्रवास में हम कई स्थानों पर और कई बार मिले। मुझे लगा कि हम लोग वैचारिक धरातल पर कहीं करीब आए हैं। यात्रा से बीच-बीच में मैं दिल्ली लौटता तो उनसे मिलता और वे भी मेरे काम के बारे में खोज-खबर रखते, रस लेते। पत्र-व्यवहार भी होता।

1974 के मध्य में मैं गुजरात से लौटा और बिहार जाने को हुआ तो भी उनसे मुलाकात हुई, गांधी स्मारक निधि के कार्यालय के लॉन पर हम लोग काफी बातें करते रहे, तब हमारे सोचने के ढंग में अंतर था, फिर भी वे मेरे प्रति सौम्य रहे, शायद कुछ दूरी रखी उन्होंने वरना अपनों पर बरस पड़ने का उनका स्वभाव मुझे भी कैसे छोड़ता।

वर्ष के अंत में मैं थका और दिक्भ्रांत-सा बिहार से लौटा और कुछ महीनों के बाद 1975 के मार्च में दिल्ली जाकर रहने लगा। यहां से हमारे बीच संपर्क बढ़ना शुरू हुआ, और एक दिन वे अपने घर पर मुझसे बोले कि मैं तुम्हें पाखंडी समझता हूं, तुम्हारा अहं बहुत प्रखर है कि तुम अपने विचार के सामने दूसरों के विचारों को गिनते ही नहीं हो। यह बात देश के एक बहुत बड़े आदमी के विचारों से मेरे मतभेद के संदर्भ में कही गई थी।

यह सुनकर मैं सन्न रह गया, लेकिन बहरहाल एक आदमी मेरे बारे में इस तरह से सोच रहा है और उसमें इतनी आत्मीयता है कि वह जो सोचता है वही मुझसे कह रहा है तो यह तो सुनने, सोचने और समझने लायक बात है, यह सोचकर मैं खामोश रहा। उन्होंने समझा कि मुझे बुरा लग गया। बुरा तो मुझे लगा था लेकिन मैं उनकी बात को हवा में नहीं उड़ा सकता था। मैंने यह कहकर बात खत्म की कि इस बारे में तो फिर भी कभी बात की जा सकती है, आदमी की राय बनती, बदलती रहती है, और आदमी का चरित्र भी बनता बदलता रहता है।

उस दिन मैं उनके घर से दोपहर का भोजन करके लौट आया। मन कुछ भारी था। भारी क्यों होता यदि वे गलत होते, अहं था तभी तो चोट खाकर तिल-मिलाया होगा, लेकिन मैंने सोचा कि यह आदमी यानी डा० लाल मित्र बनाने लायक है, क्योंकि वह अपनों के दोष देखता ही नहीं बताता भी है। और फिर, मैं उनकी व्यस्तता के बावजूद उन्हें घेर लेता, कभी घर पर, कभी रवींद्र भवन में जहां वे उन दिनों अक्सर बैठते थे। कभी-कभी वे मेरे निवास पर भी आने लगे।

मैं सोचता हूं कि शायद उनके कहने से ही मेरा अहं कुछ गला होगा कि उन्हें यकीन आने लगा मुझ पर और हम लोग निजी मामलों, देश और समाज की समस्याओं, साहित्य, समाज और नाना विषयों पर घंटों-घंटों चर्चाएं करने लगे। इस बीच मुझे सहज ही डा० लक्ष्मीनारायण लाल का यत्किंचित अंतःदर्शन हुआ, यानी मैंने देश के इस साहित्य-मनीषी के भीतर के आदमी को बहुत करीब से देखा और महसूस किया कि वे बहुत खरे हैं, उनके प्रत्यक्ष अक्खड़पन के पीछे एक निहायत कोमल और भावुक इंसान जाग रहा है, जो अपने आसपास को ही नहीं स्वयं को भी संवारने की कोशिश में अनवरत लगा है।

आदमी ही उनका अंतिम मूल्य है

लक्ष्मीनारायण लाल की पिछले तीन-चार साल में छपी कुछ पुस्तकें देखीं, और फिर करीब से उनको खुद को देखा तो मुझे लगा कि मैं पुस्तकें नहीं एक शीशे में पड़ती हुई परछाई देख रहा हूं लेखक के जीवन, चिंतन और दिमाग की। मुझे ऐसा लगा कि जैसे वे जीवन से भी ज्यादा आदमी को बीच में रखकर सोचते और लिखते हैं, यानी आदमी में जीवन की चेतना हो या न हो आदमी उनके लिए मूल्य बन गया है, और वह भी अंतिम मूल्य।

अभी पिछले दिनों जब अमरीका के उपन्यासकार सॉल बैलो को नोबल पुरस्कार मिला तो सहज ही उनकी कुछ पुस्तकें पढ़ने का मन हुआ, और उनके जीवन के बारे में भी कुछ पढ़ डाला। वह सब पढ़कर मैं सोचने लगा कि सॉल बैलो ने जिस प्रचार-माध्यम की शिकायत की है, और कहा है कि उसके आगे लेखक की कलम की गिनती ही नहीं हो पाती, उसी प्रचार-माध्यम तथा उस माध्यम की भाषा अंग्रेजी के बलबूते पर ही तो उन्हें नोबल पुरस्कार मिल गया, वरना जो कुछ उनके साहित्य में है वह सब कुछ उनसे कहीं अधिक मात्रा में लक्ष्मीनारायण लाल के साहित्य में है, लेकिन उसका मूल्यांकन कहां हुआ। हुआ ही नहीं, क्योंकि वे आत्मप्रचार की बयार से बहुत दूर रहते हैं और हिंदी के पास ऐसा कोई प्रचार-माध्यम है नहीं कि वह अपने साहित्य को विश्व के दिमाग पर उछाल सके, बेचारा हिंदी का पाठक इतना समर्थ नहीं है कि डा० लाल की पुस्तकें करोड़ों की संख्या में बिकें और अखबारों में इसीलिए उनकी चर्चा हो।

डा० लाल के साहित्य की समीक्षा तो बहुत लोग करेंगे, समीक्षा करने की योग्यता भी मुझमें नहीं है, लेकिन एक बात मैं उसके बारे में अवश्य कहूंगा कि डा० लाल का समूचा लेखन एक तीर्थयात्रा है। वे मानवीय मूल्यों और नैतिकता के तीर्थ की परिक्रमा कर रहे हैं, और उस मनुष्य को जो उनके समग्र चिंतन का केंद्र है इस तीर्थ के जल से नहलाना चाहते हैं। उन्होंने मेरे ही पाखंडी मन पर चोट नहीं की है, उनकी एक ही कृति 'हरा समंदर गोपीचंदर' उठाकर देख लीजिए, उन्होंने समूचे समाज के अंतराल में पल रहे पाखंड पर करारी चोट की है, और वे अपनी नियति से भी परिचित हैं।

डा० लाल के लिए कला अपने-आपमें कोई चीज़ नहीं है, जो कला जीवन से संबद्ध न हो, उसके लिए डा० लाल के मन में कोई जगह नहीं है। कला तो अभिव्यक्ति का सौंदर्य है, चातुर्य है, उसकी सरसता है, और सहजता भी, लेकिन मुख्य बात तो यह है कि लेखक कहना क्या चाहता है, उसकी खोज क्या है। वह महज़ शब्दाडंबर रच रहा है या अपने संदर्भों से जुड़ा हुआ किन्हीं उच्चतर प्रयोजनों की साधना कर रहा है।

लक्ष्मीनारायण लाल ऐसे साधक हैं। वे इस देश के अतीत और भविष्य के बीच मानवीय मूल्यों का पुलिन निर्माण करने में लगे हैं कि वर्तमान की पदार्थवादिता की पिघली हुई लावा पर से इस देश और समूची मानवजाति को संस्कृति के श्रेष्ठतम तत्त्व काल से आगे की ओर अबाध गुजर जाएं और उनके कोमल पांवों को तनिक भी आंच न लगे। हां, जल रहा है वर्तमान। भारत में ही नहीं समूचे संसार में वर्तमान जल रहा है। आदमी ने अपने चारों ओर विज्ञान की उपलब्धियों के आधार पर जो मरीचिका बुनी है उसमें फंसकर मानवता दम तोड़ रही है। आदमी अपने संदर्भों से सर्वथा टूट गया है, डा० लाल उसे विश्वास की रजतरज्जु थमाकर साहस के साथ आगे बढ़ने का संदेश देते हैं। वे यह नहीं कहते कि यह आगे बढ़ना बहुत आसान है, लेकिन वे यह आशा बंधाते हैं कि यह हो सकेगा, और हम वर्तमान में से सही-सलामत निकलकर भावी की ड्योढ़ी पर खड़े हो सकेंगे, एक ऐसे नए समाज की रचना के लिए जिसमें मनुष्य का मूल्य मनुष्य के नाते ही होगा, और जिसमें वह अपनी स्वतंत्रताओं

का अबाध किंतु सामाजिकता की मर्यादाओं के भीतर संयत उपयोग कर सकेगा।

मैं कभी सोचता हूं कि जो आदमी इस जमाने में नरसिंह कथा लिख रहा है जबकि युग के अन्य साहित्यकार अपने परिवेश के संत्रास और महानगरीय सभ्यता की विभीषिका से त्रस्त होकर लिख रहे हैं, क्या अपने संदर्भों से जुड़ा है? मैं यहीप्रश्न लक्ष्मीनारायण लाल से करता हूं और उत्तर पाता हूं कि मित्र, संदर्भ कहां बदले हैं, संत्रास कहां बदला है। जो संत्रास प्रह्लाद का था वही इस बीसवीं शताब्दी में अफ्रीका के उन कालों का है जो गोरों के शासन में जी रहे हैं और दुनिया के उन काले, भूरे तथा गोरे लोगों का भी जो अपने ही रंग-रोगन वाले हिरण्यकशिपु की एड़ी के तले कराह रहे हैं। फिर मैं सोचता हूं कि लक्ष्मीनारायण लाल का सोचना सही है थोड़े से अंतर के साथ कि हिरण्यकशिपु तो है, मगर प्रह्लाद के होने में कई बार शंका होती है। डा० लाल की खोज प्रह्लाद की खोज है। कैसी विडंबना है कि गांधी के हो जाने के बाद भी हमारी दुनिया को प्रह्लाद की तलाश है। मगर वह है, इसलिए साहित्यकार, हमारे जमाने का साहित्यकार, उस तलाश को दकियानूसी मानकर उससे मुंह फेर लेगा तो यह तो अपने बुनियादी दायित्वों से भागना होगा। डा० लाल उन दायित्वों से नहीं भागे, तब भी नहीं भागे जब उनके आलोचकों ने उन्हें दकियानूसी कहा।

युगप्रश्न जिसका यक्षप्रश्न है

लक्ष्मीनारायण लाल एक ऐसे साहित्यकार हैं जो साहित्य के बारे में नहीं, कला के बारे में नहीं, जीवन के बारे में लिखता है, जीवन में साहित्य खोजता और साहित्य प्रदान करता है, जीवन के घिनौनेपन को अपनी कलात्मक अभिरुचि से धैर्यपूर्वक संवारता और सजाता है। वे अपने जमाने के संत्रास को विवस्त्र करके नहीं छोड़ देते क्योंकि वे दुःशासन नहीं हैं, वे उसमें से निकलने का मार्ग खोजते हैं। डा० लाल अपने युग के प्रश्न का कितना सही निरूपण कर पाए हैं या आगे कर पाएंगे, इस बारे में अलग-अलग लोगों के अलग-अलग विचार हो सकते हैं, भले ही मैं यह कहूं कि वे तह तक पहुंच गए हैं, लेकिन यह बात हर किसी को स्वीकार करनी होगी कि वे पहले तो यह मानते हैं कि हमारे युग का कोई प्रश्न है, कोई चुनौती है, जिसका उत्तर देने और सामना करने से पहले हमें वह प्रश्न पूछने का तो साहस करना होगा।

इस मनीषी को देहाती साहित्यकार कहकर मुंह बिचकाने वाले समीक्षक यह नहीं जानते कि यह आदमी अपने जमाने के साथ जुड़ा हुआ है, उसके संत्रास को अपनी बुद्धि में ही नहीं अपनी आत्मा के अंतरतम में भोग रहा है, उसकी व्यथा उसके चेहरे पर उभर आती है, और फिर भी वह उस व्यथा से असंतुलित नहीं होता, वह आम आदमी का प्रवक्ता बनकर उसकी पीड़ा को जुबान देता है, शब्दों में निरूपित करता है। लक्ष्मीनारायण लाल ने जो कुछ भी लिखा है उस सबके पीछे एक मूलोत्तर प्रयोजन है कि उनका पाठक अपने जमाने की मांग को पहचाने, अपने समाज के विद्रूप को जिसे संस्कृति के छद्म में पेश किया जा रहा है। वे चंद फालतू और पैसे वाले

दिमागी ऐयाशों के लिए नहीं आम आदमी के लिए लिखते हैं, उसके बारे में लिखते हैं, उसके इर्दगिर्द बैठकर लिखते हैं, उसको छूते हैं और जरा भी मौका पाते हैं तो उसे झकझोरकर उससे पूछते हैं कि बोल तू खुद अपने संत्रास के लिए किस कदर जिम्मेदार है। वे उससे कहते हैं कि अपने पौरुष को परख, भीख मत मांग। डा० लाल राजनीतिक प्रतिबद्धताओं और नारेबाजी के चक्रमे से बाहर रहकर अपने पाठक के स्वत्व को जगाने और उसे प्रबुद्ध बनाने की कोशिश करते हैं, वह भी परोक्षतः। उन्होंने उपदेशात्मक शैली नहीं अपनाई, वे सोचने को मजबूर करते हैं।

लाल आदमी को उसकी आस्थाओं से डिगाए बिना उसे प्रेरित करते हैं सवाल पूछने के लिए। वे अंध-स्वीकृति पर प्रहार करते हैं। वे स्वीकृति के खिलाफ नहीं हैं, लेकिन उनका अंतिम मंतव्य और अभिप्राय स्वीकृति नहीं उत्तर की खोज है। उनके सामने मूल प्रश्न यह है कि जिसे तुम्हारा विवेक स्वीकार नहीं करता, उसे प्रलोभन, भय अथवा वासनावश क्यों स्वीकार करते हो, तथा जिसे तुम स्वीकार नहीं करना चाहते उसे अस्वीकार क्यों नहीं करते, और उसके स्थान पर तुम्हें जो चाहिए उसका प्रतिपादन क्यों नहीं करते।

लक्ष्मीनारायण लाल समाज के साहित्यकार हैं। वे समाज को उसके उनींदेपन से निकालना चाहते हैं, सुकरात की तरह सवाल पूछकर। वे अपने पात्रों को अलौकिक अथवा पारलौकिक नहीं बनाते, न उन्हें दूध से नहलाते ही हैं। उनका प्रमुख पात्र भी, चाहे वह प्रह्लाद हो या विक्रम सामान्य आदमी है, उसमें देवत्व नहीं मनुष्यत्व है, और वह भी महज दार्शनिक या काल्पनिक मनुष्यत्व नहीं वरन् यथार्थ और आदिम मनुष्यत्व। उनके आदर्श पात्र को भी भूख लगती है, और नारी का रूप आकर्षक लगता है। वे स्वयं सहज हैं, और उनके पात्र भी उसी सहजता में जीते हैं।

लाल में व्यंग्य की अद्भुत क्षमता है। उनके ग्रंथों में जिस प्रकार के चुटीले व्यंग्य, समर्थ के अहं पर चोट करने के लिए किए गए हैं, वैसे अन्यत्र कम देखने को मिलते हैं। उनका नायक अपने पर भी व्यंग्य करने में समर्थ है। वे अपने नाटकों और उपन्यासों में अपने नायक को विजयी तो बना देते हैं लेकिन आखिर में आकर उसकी भी धिसाई करते हैं क्योंकि उन्हें मालूम है कि जिस लूथर ने पोप के अमानुषी अत्याचार सहे थे, वही लूथर जब स्वयं पोप बना था तो उसने कुछ कम अमानुषी अत्याचार नहीं किए थे। वे इस पोप या उस पोप के हिमायती या विरोधी नहीं हैं, वे हिमायती हैं न्याय के चाहे उसका धारक कोई हो और वे विरोधी हैं जुल्म के चाहे वह किसी भी स्रोत से आए। वे यह बताने से नहीं चूके हैं कि न कोई आदमी बुनियादी तौर पर हिरण्यकशिपु की तरह शुद्ध आततायी होता है, न प्रह्लाद की तरह शुद्ध न्यायी। हर हिरण्यकशिपु में प्रह्लाद अंतर्निहित है और हर प्रह्लाद में हिरण्यकशिपु, इसलिए वे उन दोनों से कहते हैं कि अपने गरेबान में मुंह डालकर जागते रहो, और सबसे ज्यादा वे उस तीसरे आदमी को सचेत करते हैं जो इन दोनों की लोपों का भोजन है, कि यदि तू सो गया तो ये तुझे निगल जाएंगे। वे जान स्टुआर्ट मिल की तरह कहते हैं कि आजादी की रक्षा के लिए शाश्वत

जागरूकता अनिवार्य है। वे व्यवस्था पर बल देते हैं, उस व्यवस्था पर जो सत्ता के स्वेच्छाचारी प्रयोग पर नियंत्रण लगाए रखे, भले ही वह सत्ता पिता की हो, गुरु की, महाजन की या राजा की।

उनका देहातीपन

लक्ष्मीनारायण लाल शुद्ध देहाती आदमी हैं, शहर में रहते-रहते उम्र मंझदार में आ लगी है लेकिन यह आदमी है कि अपनी आदतों, सलीकों और तौर-तरीकों में निहायत तथा निरा देहाती है। कहने का अभिप्राय यह कि लाल में सभ्यता का वह मुलम्मा गायब है जिसके नीचे शहरी आदमी का भेड़िया तसल्ली के साथ तिजोरी भरता रहता है। यह आदमी मुखौटे नहीं पहनता, इसका चेहरा नंगा है, और यह अपने मित्रों, परिजनों, स्वजनों और अपने प्रत्यंत आत्मीय पात्रों को स्वयं तो नंगा करके देखता ही है, अपने पाठकों के सामने भी वैसे ही पेश कर देता है, जिसके कारण इस आदमी के पाठक इसके पात्रों के नंगेपन में अपने नंगेपन को देखकर सिहर जाते हैं, और समीक्षक भी। नतीजा यह होता है कि वे इस लेखक पर देहातीपन का इलज़ाम लगाते हैं, यह भूलकर कि यह लेखक देहातीपन को नहीं शहरीपन को इलज़ाम मानता है।

लाल बाल्ज़ाक की तरह 'उघाड़ने' को लेखक का बुनियादी धर्म मानते हैं। बाल्ज़ाक की मौत के बाद जब लोगों को उनका पुतला खड़ा करने की धुन सवार हुई तो उसके लिए कलाकारों से डिज़ायन मांगे गए। एक कलाकार ने बाल्ज़ाक का नगा चित्र बनाया और कहा कि ऐसा पुतला खड़ा किया जाए। निर्णायकों ने उससे पूछा क्यों? उसने जवाब दिया कि यह आदमी जिंदगी-भर हर गंदगी पर ढंकी चादर उघाड़ता रहा, इसने अपनी जिंदगी को भी उघाड़कर जिया, इसलिए इसका नगा पुतला खड़ा किया जाए जो हमेशा के लिए लेखकों को सचेत करता रहे कि तुम सभ्यता के उस षड्यंत्र में शामिल मत होना जिसके द्वारा वह हर गंदगी पर चादर डालकर उसे आंखों से ओझल कर देना चाहती है। इसके बजाए तुम उसे उघाड़ देना जिससे कि आंख वाले लोग उसे देखें और हृदय वाले लोग उसे साफ करें।

लक्ष्मीनारायण लाल इसी धारणा के अनुगामी हैं, वे साहित्यकार और कलाकार को सभ्यता का नहीं संस्कृति का वाहन मानते हैं, और खुद से यह अपेक्षा करते हैं कि ईशोपनिषदकार की परिभाषा को सार्थक कर सकें जिसमें वह कहता है : कविः मनीषी परिभू स्वयंभू। और, कौन है मनीषी? वह जो प्रार्थना करता है : हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखं, तत्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये।

सत्य का मुख सोने के बर्तन से ढंका है, यानी सभ्यता ने सत्य को ढंक रखा है, सत्यधर्मा प्रखरता के मूर्तिमान प्रतीक सूर्य से प्रार्थना करता है कि हटाओ, देव उस पात्र को हटा दो सत्य के कलश पर से कि मैं सत्य का दर्शन कर सकूं। साहित्यकार के लिए सभ्यता के नियमों का बंधन नहीं होता, उसे तो अपने पर्यावरण में जनजीवन की गहराइयों में जाना होता है, और भारतीय देहाती जीवन की सादगी तथा शुचिता के

माध्यम से सत्य की खोज तथा उसके निरूपण का धर्म निबाहना होता है। यह धर्म लाल दिल्ली जैसे शहर की पटेलनगर जैसी राजसी बस्ती में रहकर और घर के सामने बाबा आदम के जमाने की एक लकड़ा मगर निहायत स्टैंडर्ड जात की कार और पिछवाड़े में एक दुपहिया स्कूटर रखकर ठाठ से निबाहते हैं। मगर कहां कर पाते हैं उस सबके साथ अपने आपको आत्मसात ! मैंने अपनी आंखों से इस आदमी को बिसूरते देखा है कि कहां जाए वह उन दिनों शाम को जब उसके घर में रखे टेलीविजन पर सिनेमा की फिल्म देखने पड़ोस की भीड़ जमा हो जाती है। यह देहाती आदमी महज दिल्ली में ही अलगाव नहीं महसूस करता, अपने शहराती घर में भी अजनबी बन जाता है, और शायद बेहद अजनबी बन जाता यदि उसे एक देहाती सुलक्षणा के बजाय शहराती तितली गृहिणी के रूप में मिली होती। यह उनकी पत्नी का देहातीपन ही है कि वे उन्हें उनके साहित्य-प्रसव के क्षणों में बच्चे की तरह हथेलियों पर संभाल लेती हैं, और एक बंधी हुई आमदनी के अभाव में जीकर भी मांगों और शिकायतों से अछूती उनके हावभाव और उनके पात्रों के उतार-चढ़ाव में जीने लगती है। मैंने उनकी धर्म-पत्नी को उनकी कृतियों के प्रति मां जैसी ममता से भरा देखा है, वे उनसे ईर्ष्या नहीं करतीं, जबकि ऐसा होना चाहिए था। जाने कैसे वे यह सहन कर लेती हैं कि उनका पति अपना समूचा ध्यान अपनी कृतियों पर केंद्रित रखे, और क्योंकि वे यह सह लेती हैं, इसीलिए लाल अपनी पत्नी को अपनी कृतियों के बीच संजोए उनके रक्तचाप में वैसे ही त्रस्त नजर आते हैं जैसे अपने पात्र के गुरदे के दर्द के समय।

मेरी हार्दिक कामना है कि लक्ष्मीनारायण लाल बहुत जिएं, तन और मन से स्वस्थ रहें, एकदम बेकुंठ, और इस देश और संसार की संत्रस्त तथा अतृप्त मानवजाति के लिए अपने निराले ढंग का सरल और सहज देहाती साहित्य लिखते चले जाएं जिसके सहारे भारतीय मनीषा को नए आयाम मिलें और मानवजाति नई आस्थाएं ग्रहण करके अपने जीवनसंघर्ष में दिग्विजयी हो। हिंदी का यह तुलसी अपने साहित्य के राम में देवत्व नहीं मनुष्यत्व खोज रहा है, शायद इसलिए कि यह अपनी रत्नावली को छोड़कर नहीं गया है जिसके चिरायु होने और अखंड सौभाग्य की कामना करता हूं।

लाल का अर्थ

राजेन्द्र अवस्थी

पचपन या छप्पन में लक्ष्मीनारायण लाल की पहली कहानी पढ़ी थी 'सूने आंगन रस बरसे' और मैं सहज ही आकृष्ट हुआ लाल से। फिर पहली बार लाल से भेंट हुई इलाहाबाद में। इलाहाबाद की वह भेंट मैं कभी नहीं भूल सकता। घर पर ही वह भेंट हुई थी। एक सुखी गृहस्थ परिवार—तीन बच्चों के प्रसन्न पिता, एक ही स्त्री, मतलब एक पत्नी के जिम्मेदार पति। घर-आंगन में कहीं भी कुछ सूनापन नहीं। पर वह रस कहां बरस रहा है, इसका मर्म मैंने तब पाया जब इनका पहली बार 'मन वृंदावन' उपन्यास पढ़ा। कथा में संगीततत्त्व, कथा तत्त्व में गहरी आंचलिकता, और पूरे उपन्यास में तन, मन और प्राण को स्पर्श करने वाली लाल की गहरी दृष्टि अपूर्व थी। जैसे कोई गांव में बैठा हुआ दर्शकों श्रोताओं से विरह और मिलन, मिलन और विरह की कोई रसपगी कथा कह रहा हो। बल्कि विरह गीत गा रहा हो। सुबंधु, सुगन और हिरनमयी चरित्रों के माध्यम से ब्रजभूमि और विशेषकर वृंदावन के कथा-परिवेश से जो जीवन-चित्र, प्रेम-संगीत हमें देखने और अनुभव करने को मिला। लाल के 'रस' का वह स्वाद कभी नहीं भूलता। तब से आज तक कितनी कहानियां कितने उपन्यास, कितने नाटक और लाल का कितना-कितना साथ—सब में वही अबाध रस···।

दिल्ली में लाल। दिल्ली में इन्हें पाकर, इनके साथ जीकर, रहकर, झगड़कर, ईर्ष्या कर, प्यार कर मैंने पाया—यह अपनी मिट्टी से उगा हुआ एक पुरुष वृक्ष है। मिट्टी गांव की है, जल, धूप, हवा गांव से लेकर दिल्ली, बंबई, कलकत्ता महानगर तक की लगी है, पर इसकी जड़ें अपनी ही धरती से रस लेती हैं। जड़ गहरे अंधकार में जितनी दूर तक गई हैं···चली जा रही हैं, इस वृक्ष का विकास उतना ही ऊपर और निरंतर ऊपर होता जा रहा है। जीवंतता—जीवन और रचना इन दोनों धरातलों पर समान रूप से अगर कहीं देखनी हो तो लाल को देखें। सचमुच ईर्ष्या होती है और गुस्सा आता है—यह सचमुच पुरुष है कि पेड़ है? आंधी हो, वर्षा हो, धूप हो, बवंडर हो, तूफान हो, यह वृक्ष कभी कहीं से टूटता ही नहीं। अकेला और उदास हताश नहीं होता। किसी चक्कर में नहीं आता। इसमें अनवरत, अबाध गति से रचना के फूल उगते हैं और फल हो जाते हैं। फल जब रस से भरपूर हो जाते हैं तो चुपचाप वृक्ष से सहज टपक

पड़ते हैं। जैसे अब उस फल का उस अपने पेड़ से कोई नाता-रिश्ता नहीं।

इससे एक महत्त्वपूर्ण बात हाथ लगी। जड़ से तो उगे हुए हैं, पर अपने सिर पर अपना ग्राम अंचल नहीं ओढ़े हुए हैं। उसमें हैं पर उससे मुक्त भी हैं। इलाहाबाद इनके सिर पर नहीं है—ना ही दिल्ली महानगर इनके ऊपर है। जैसे सब में हैं, पर सबके आरपार है। सबके सामने हैं, सबसे विनम्र हैं और सबसे बड़ी बात इतनी महत्त्वपूर्ण लेखकीय यात्रा के बावजूद उसका कोई अहंकार नहीं है। इतना वजन है इनके लेखन में, पर उतने ही प्रफुल्ल, सहज और सरल हैं अपने व्यक्तित्व में। व्यक्तित्व का इतना घुला, खुलापन अन्यत्र देखने को कम मिलेगा। यह वह आकर्षण बिंदु है जहां इनकी मित्रता, इनके कठोर परिश्रम लेखकीय निष्ठा के अनवरत फूल खिलते हैं। कोई मित्र, कोई संपादक, कोई प्रकाशक इनकी कोई शिकायत नहीं करता। सबके प्रशंसापात्र हैं। आश्चर्य तो यह कि इनकी पत्नी—श्रीमती आरती लाल तक इनकी भरपूर प्रशंसिका हैं। लाल अपनी पत्नी से मिलाते हुए अक्सर कह बैठते हैं, देखो, मिलो मेरी आरती से, यह मेरी वही पत्नी है वही, जिनसे मेरी शादी सोलह साल की उम्र में हुई थी।

इलाहाबाद, दिल्ली यूनिवर्सिटी में अध्यापक थे, तब भी इनके लेखन कार्य में कोई बाधा नहीं थी। खूब लिखते रहे हैं—बराबर। पर एक दिन, पैंतालिस वर्ष की उम्र में ही जब नौकरी—अध्यापक-जैसी आरामदेह नौकरी को अचानक छोड़कर आए तो मुझे बहुत ताज्जुब हुआ। पूछने पर बताते हैं, भाई मुझे अपना स्वधर्म मिल गया। मध्यवर्ग के आदमी को अपना स्वधर्म ढूंढ पाने में इतना समय लगता है। देखो सोलह वर्ष अध्यापक रहने के बाद मुझे पता चला कि मैं केवल लिख सकता हूं। वही, केवल वही मेरा स्वधर्म है। जब स्वधर्म मिल जाए तो उसे पकड़ लेना और उसी के साथ मरना-जीना, यही तो पुरुषार्थ है।

उन्नीस सौ बहत्तर से लाल केवल अपने उसी लेखन पुरुषार्थ के ही साथ हैं। एक बार मैंने पूछा—यह पुरुष क्या है? उत्तर मिला—जो कर्ता है। मैंने पूछा—कर्ता कौन है? उत्तर मिला—जो भोक्ता है। भोक्ता कौन है? जो दर्शक है, अपने कर्ता और भोक्ता का। उस दिन से मैं लाल को 'पंडित जी' कहने लगा। पंडित जी।

हां, बोलो।

आजकल क्या लिख रहे हो?

नाटक पूरा कर निर्देशक को दे दिया है। इस समय उपन्यास लिख रहा हूं।

अरे पंडित जी, थोड़ा विश्राम कर लेते।

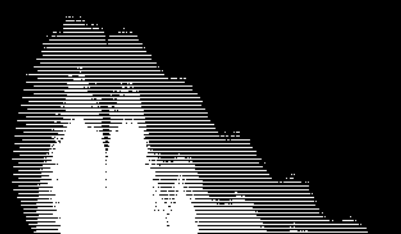

भाई, विश्राम ही तो कर रहा हूं।

क्या ? सुबह से शाम तक लिखते-पढ़ते रहते हो, यह विश्राम है ?

लाल थोड़ी देर तक चुप थे। फिर मुस्कराते हुए बोले—नाटक लिखते-लिखते जब थक जाता हूं तब उपन्यास लिखकर विश्राम करता हूं। और जब उपन्यास लिखकर थक जाता हूं तो नाट्य लेखन से विश्राम करता हूं।

कमाल है, लिखना तुम्हारे लिए विश्राम है ? तुम कतई माडर्न लेखक नहीं हो। माडर्न लेखक का मतलब है—तनाव, कष्ट भोगना, दर्द, निराशा, हताशा से गुजरना, चूरचूर हो जाना, घायल होकर अकेला···।

लाल की मुस्कान बढ़ती ही चली जाती है। मुझे गुस्सा आता है। लाल बकवास करता है। तभी मुझे लाल की बात सुनाई पड़ती है। वे मुझे बड़े स्नेह से समझाते हैं—देखो भाई, मैं इस हिसाब से कतई माडर्न लेखक नहीं हूं। तुम मुझ माडर्न न कहोगे तो मुझे गाली नहीं लगेगी। मेरा जो लेखन है, वही मेरा कर्म है। वही मैं हूं। क्या मैं अपने में से तनाव में, कष्टभोग में, निराशा, हताशा या घाव के रिश्ते से बंधा हूं। कतई नहीं। ऐसा होता तो क्या कुछ लिखना जीना संभव होता ? नहीं। मैं लिखता हूं यही मेरा कर्म है और यही मेरा आनंद है। यह अपने आपमें पर्याप्त है, पूर्ण है। जब फूल खिल उठता है तो लगता है जैसे वह फूल ही वृक्ष का एकमात्र लक्ष्य हो। लेकिन यह बात छिपी रहती है उसी फूल में कि वह फल लगने का एक उपलक्ष्य मात्र है। फिर भी वह फूल अपने वर्तमान के गौरव में ही आनंदित रहता है—भविष्य उसे अभिभूत नहीं करता। और फिर फल को देखकर लगता है जैसे वही अंतिम लक्ष्य हो वृक्ष का। पर नहीं, वहां भी यह बात छिपी रहती है कि फल अपने गर्भ में भावी वृक्ष के बीज को पका रहा है···वृक्ष को फूल और फल को परिश्रम कहां करना पड़ता है ? वह तो आनंद है, सौंदर्य और पराप्रकृति है जिसमें वह अपनी भूमिका अदा कर रहा है···।

एक दिन मैं दफ्तर में बेहद थका हुआ-सा लाल को मिला और गाली दी—तुम ···हरदम खिले रहते हो, स्वस्थ, प्रसन्न छैला की माफिक, तुम बकवास करते हो कि परिश्रम नहीं है। परिश्रम नहीं तो और क्या है देखो मेरी हालत देखो, नींद नहीं आती, सारे बदन में दर्द, कुछ भी लिखा-पढ़ा नहीं जाता। उस दिन लाल मेरे साथ गाड़ी में बैठकर इंडिया इंटरनेशनल गए। वहीं बैठे हम बियर पीते रहे। परिश्रम वाली बात मुझे बेहद तंग कर रही थी कि यह सामने बैठा लाल बिलकुल 'फ्राड' है।

उस रात मेरे घर आकर लाल ने एक अजीब बात मुझे समझानी चाही जिसे मैं अब तक न समझ पाया। कहा कि एक है श्रम जो शरीर से होता है, दूसरा है परिश्रम जो शरीर और मन-बुद्धि से होता है, और एक है आश्रम जहां श्रम और परिश्रम दोनों खत्म हो जाते हैं—यह आत्मा से जुड़कर होता है।

मुझे उस दिन आश्रम शब्द का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ मिला। पर इस लाल का क्या अर्थ है, जो इतना लिखता है और बहुत अच्छा लिखता है ? असंख्य पाठकों का

प्रिय है, तमाम नाटक मंडलियों, निर्देशकों, अभिनेताओं और दर्शकों में पुजता है—इसका क्या अर्थ है ? अर्थ है अदम्य रचनाशक्ति । गत पांच वर्ष का ही लेखा-जोखा लें । मतलब जब से स्वतंत्र लेखक हुए । 'प्रेम पवित्र नदी,' 'हरा समुंदर,' 'शृंगार,' 'वसंत की प्रतीक्षा' और 'देवीना'—इतने उपन्यास । 'सूर्यमुख,' 'व्यक्तिगत,' 'एक सत्य हरिश्चंद्र,' 'यक्षप्रश्न,' 'सबरंग मोहभंग,' 'सगुन पंछी,' 'संस्कार ध्वज'—इतने नाटक । इस बीच कितनी कहानियां, कितने लघु नाटक लिखे गए उसका जायजा अलग है ।

प्रायः प्रतिदिन लाल का कोई न कोई नाटक कहीं खेला जाता है, प्रस्तुत होता रहता है । प्रायः चार सौ रुपये प्रदर्शन की रायल्टी इन्हें मिलती है । जबकि इससे ज्यादा रायल्टी लोग मार देते हैं, किसी न किसी बहाने पचा जाते हैं । वर्तमान हिंदी नाटक और रंगमंच वस्तुतः लाल का रंगमंच है ।

इतना कृतित्व, यश—पर लाल का अहंकार कहां है ? मैंने एक दिन पूछा—यार तुम्हारा अहंकार कहां है ?

क्यों ?

तुम्हारे अहंकार को कभी चोट लगते नहीं देखा ।

लाल का उत्तर था—मैं अपना अहंकार हथेली पर रखे, दिखाते नहीं घूमता कि कोई भी आकर उसे मार जाए । मेरा अहंकार मेरी अतल गहराइयों में है, जहां अन्य कोई क्या, मैं भी चाहूं तो चोट नहीं पहुंचा सकता ।

घायल अहंकार से रचना नहीं होती ?

नहीं ।

क्यों ?

जो स्वस्थ नहीं है—मतलब अपने आपमें स्थित जो नहीं है अपने पूर्ण अनुशासन में नहीं है, वह लिख सकता है पर रचना नहीं कर सकता ।

लाल के इस उत्तर से मुझे झुंझलाहट हुई, यार, तुम कैसी भाषा बोलते हो ?

लाल ने कहा—अपनी भाषा बोलता हूं ।

अपनी भाषा क्या है ?

अपना अनुभव ।

अनुभव क्या है ?

मैं से व्यक्ति और व्यक्ति से मनुष्य···।

और रचनाकार ?

पता नहीं···।

बसंत ऋतु

सरोजनी लाल

निश्चित रूप से आप मुझे नहीं जानते होंगे। इसलिए सर्वप्रथम मैं आपको अपना परिचय दे दूं। मैं डा० लाल की बेटी हूं और ये भी जानती हूं कि मुझे उस तरह के लेखन का अनुभव नहीं है, भाषा नहीं है मेरे पास जिससे मैं अपने बाबूजी के जीवन को शब्दबद्ध कर सकूं। वह जीवन जो मैं जानती हूं—जिसका मैं अंग हूं। अंग सर्वांग के बारे में क्या लिखूं, नहीं जानती।

चूंकि मुझे उनकी बेटी होने का सौभाग्य प्राप्त है, इसलिए मैं आपको उनकी कुछ दिलचस्प बातें अपनी दुधमुही भाषा में लिखना चाहती हूं, जिसे मैं इनके व्यक्ति की पहचान, समझ के लिए महत्त्वपूर्ण समझती हूं।

मैं जानती हूं उन बातों का पता किसी और को नहीं है। पर माफ कीजिएगा मेरे पास बातें तो ज़रूर हैं, बहुत दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण हैं, पर उतनी कलापूर्ण भाषा नहीं है।

यह उस समय का जिक्र है जब बाबूजी छोटे थे, सुना है काफी शैतान थे। शरारत में इनका कोई मुकाबला नहीं। चूंकि घर में काफी बच्चे थे, इसलिए शुरू से इन्हें किसी भी काम के लिए रोका नहीं जा सका, इसलिए ये खूब खेले। आपको बता दूं बचपन से ही ये एक अच्छे कुश्तीबाज, तैराक और गायक रहे हैं। काफी गहरे पानी में जाते, कोई देखता, शिकायत होती, मार पड़ती। बचपन से ही आपको मछली पकड़ने, मारने, खाने का बहुत शौक। जब और लड़के कुछ खेलते रहते तो आप साहब मछली पकड़ते और डांट के डर से पिछले दरवाजे से जाते और बहनों के ये दुलारे थे, वे इनका पूरा साथ देतीं। मछली काटी जाती और घर में बननी पर किसी को खबर तक नहीं होती।

कुछ और बड़ होने पर जब प्राइमरी, मिडिल स्कूल में दाखिल हुए तो जनाब बिना कहीं रुके दौड़ते हुए स्कूल जाने की शर्त होती थी। मिडिल स्कूल उनके घर से कई मील पर था। गांव की ऊबड़-खाबड़ जमीन पर दौड़ते कूदते जाते थे। दादी मां बताती थीं इनके पैरों में सदा चोट, घाव रहते थे। पर खेलकूद, दौड़-भाग कभी नहीं रुकता था। जहां और भाई-बहनों को पैसा मिलता तो वे लोग तो झट मिठाई खाते,

पर ये थे कि उन पैसों की चीजें लेकर अजीब-अजीब बाजे बनाते थे। सुना है कि ये बहुत ही अच्छी बांसुरी बजाते थे। और आस-पड़ोस क्या किसी दूर गांव में अगर नाच-गाना, नाटक, लीला तमाशा हो तो दुनिया की कोई ताकत उन्हें नहीं रोक सकती थी। सब के सो जाने पर आप खिसक लेते थे। घर में लोग कहते थे कि यह नालायक है, घर को डुबाकर तबाह कर छोड़ेगा। पर इन छोटी-छोटी नालायकी के साथ-साथ आपकी पढ़ाई अत्यंत अच्छे तरीके से चल रही थी। गहरी रुचि थी पढ़ाई में शुरू से ही। पर अव्वल दर्जे के लड़ाकू, खिलाड़ी और मित्र।

आगे की पढ़ाई के लिए, मतलब हाई स्कूल शिक्षा के लिए, आपको अपने पहले स्कूल से काफी दूर जाना पड़ता था। वहां से रोज आना-जाना बहुत ही मुश्किल था। येन हीं कि बाबूजी रोज आ-जा नहीं सकते थे, वरन यह कि रोज-रोज आने-जाने से वक्त तो खराब होता ही, पढ़ाई का भी नुकसान होता। सो इसके लिए आपको कोई ऐसी जगह चाहिए थी जहां पर रहकर यह पढ़ सकें, रह सकें। पास में यदि समुचित पैसा होता तो समस्या सुलझ सकती थी। या कोई रिश्तेदार होता तो वहां रहा जा सकता था। अंत में एक अजीब आदमी आया इनकी जिंदगी में जो कि इस शर्त पर कमरा देने को तैयार हुआ कि 'साहब आपको हम कमरा तो देंगे पर इस शर्त पर, आप हमें रोज एक कहानी सुनाएंगे'। बस कमरा मिला पर खाना का क्या होगा ? सो पास में एक खंडहर जैसा कमरा था। वहीं रसोई बनाई जाती जिसकी आधी छत गायब थी। सो यह हर हफ्ते घर जाते वहां से चावल, दाल वगैरह लाते और खुद यहां अपने हाथ से बनाते, खाते, पढ़ते और रात होते ही चिंता कि क्या कहानी सुनाऊं उसे। कोई कहानी आती हो तब ना। घर में पिता के इतने दुलारे भी नहीं थे कि उन्हें अपने बचपन की कोई कहानी याद हो, खैर। बस वहीं से इन्होंने कहानी गढ़नी, बनानी, सोचनी शुरू की और रोज नई-नई कहानी मकान मालिक को सुनाते। हाई स्कूल तक उसी कमरे में थे। कुछ समय बाद ही उस मकान मालिक का तबादला हो गया और उसकी जगह जो भी आदमी वहां आया उसे कह दिया गया कि इस लड़के को मत निकालना।

वहीं उनकी कक्षा में उनका एक मित्र था जो कि पढ़ाई में सामान्य था पर कुछ समय पश्चात् उसका संपर्क कुछ बुरे लड़कों से हो गया। उसका बड़ा भाई आया और बाबूजी से हालचाल पूछ रहा था कि इनके मुंह से निकल गया छोटे भाई के बारे में। खैर, बात आई गई हो गई। परीक्षा हुई, परिणाम निकला। बाबूजी नवीं कक्षा में अव्वल आए और इनका वह मित्र फेल हो गया। सारे लड़कों को अपने साथ लेकर वह बधाई देने आया और बातों ही बातों में इनको दूर ले गया और बाबूजी को सिर्फ इस बात पर सब ने मिलकर पीटा कि शिकायत क्यों लगाई ? इस बात से यह बहुत ही दुखी हुए और उसका दुख इन्हें आज तक है कि कोई किसी को सन्मार्ग पर नहीं ले जा सकता। सब का अपना-अपना सत्य है। खैर, इस घटना के बाद ही इनका विवाह तय हो गया। इनकी मरजी और नामरजी का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। पूछने पर अब बाबूजी कहते हैं कि मैं अपने मित्र के व्यवहार से इतना दुखी था

कि कब और कैसे मेरा विवाह हुआ मुझे कुछ याद ही नहीं।

आगे इनका गांव से इलाहाबाद तक की यात्रा बड़ी ही मार्मिक है। मेरे पास भाषा नहीं है। ये आगे पढ़ना चाहते थे, पर हमारे ताऊजी, बाबाजी (इनके पिताजी) इसके पक्ष में नहीं थे, सो एक दिन इन्होंने घर छोड़ने का फैसला कर लिया, सीधा गोरखपुर स्टेशन गए और जो भी गाड़ी इन्हें मिली, बेटिकट उस पर सवार हो गए और एक बारात के साथ इलाहाबाद पहुंच गए। सारी यात्रा में यह वहां बैठे जहां सामान रखा जाता है।

इलाहाबाद पहुंचकर कहां रहें, सब से बड़ी समस्या थी। सो इलाहाबाद रामबाग स्टेशन पर एक भड़भूजन के यहां अपना सामान रखकर इस समस्या को हल किया। पास में सिर्फ थोड़े से पैसे थे उनसे कैसे गुजारा हो सो बहुत बड़ी समस्या थी। किसी तरह से दिन कट रहे थे। बाबूजी रोज युनिवर्सिटी जाते दाखिला लेने के लिए पर रजिस्ट्रार दफ्तर में घुसने की हिम्मत ना जुटा पाने के कारण रोज वापस आ जाते। हिम्मत इसलिए कि पढ़ना जरूर था। सो ये उस समय के वाइसचांसलर श्री अमरनाथ झा के पास जाना चाहते थे और उन्होंने इन्हें दो बार कमरे से बाहर निकाला पर ये हिम्मत न हारे। अन्त में डा० झा इनको दाखिला देने पर विवश हो गए। पर इनसे इन्हें फायदा हुआ। हिंदी लेने से ये डा० रामकुमार वर्मा के संपर्क में आए तथा अंग्रेजी से बच्चनजी के संपर्क में। इन्हें दाखिला तो मिला पर सबसे बड़ी समस्या थी फीस की। पहले महीने इनको 120 रुपये देने थे। सो इन्होंने अपनी जिंदगी का पहला उपन्यास 'रक्तदान' लिखा। उसे बेचा जिसके फलस्वरूप इन्हें अस्सी रुपए मिले, कुछ उधार लेकर अपनी पढ़ाई शुरू की। दुर्भाग्य देखिए, उन दिनों भयंकर पोस्टल स्ट्राइक चल रही थी। यह घर से पैसे भी नहीं मंगवा सकते थे। पैसे तो अलग यह घर पर यानी मेरी मां को अपनी कोई सूचना तक नहीं दे सके। इधर गांव में शोर हो गया कि बाबूजी भाग गए, अब वापस नहीं आएंगे आदि आदि, न जाने कितनी अफवाहें।

मैं सोचती हूं कि इनका लेखन स्वतः ही नहीं फूटा और ना ही किसी प्रेरणा से, वरन लेखन तो इन्होंने मजबूरी में किया। विश्वविद्यालय की फीस के लिए इन्हें कई ट्यूशन करने पड़े तथा कुछ पैसे कभी घर भी भेजने पड़ते थे। इलाहाबाद में जब तक ये रहे इनके संघर्षों की कोई सीमा नहीं थी। इसी में से उपजा है मेरे बाबूजी का रचनाकार, लेखक, कथाकार, नाटककार। पढ़ाई के बाद इन्होंने कहां-कहां नौकरी की, कहां गए, क्या किया, ये सब बातें तो सब जानते ही होंगे। मैंने तो शुरू में ही कहा था कि मैं तो वही बातें बताऊंगी जो किसी को शायद ही पता होंगी।

जहां तक इनके स्वभाव का प्रश्न है, आदतों का प्रश्न है, पसंद-नापसंद का

प्रश्न है सो भी आपको बताऊंगी। इनका स्वभाव पहले तो यह था कि ये इतने संकोची थे कि कुछ कहने की बात नहीं। इस संकोच के कारण इन्होंने काफी कष्ट उठाए। अच्छे-अच्छे इनसे पैसे ऐंठ लेते थे। पूरब का संकोची संस्कार इन पर काफी समय तक रहा। इतना होते हुए अब ये लोगों को मुंह पर कहने लगे हैं, यह ठीक है। यह गलत है।

हृदय, मन इनका बहुत ही साफ है। जो बात इनके मन में होगी वही मुंह पर आती है। चाहे वह कितनी कड़वी बात हो, चाहे कितनी छोटी-बड़ी, सच्ची कह देंगे। और उसे भोगेंगे।

हमारे बाबूजी भावुक बहुत हैं। एक राज़ की बात बताऊं—लोगों से सुना है कि अपनी शादी में विदाई के वक्त मां को रोता देखकर स्वयं भी रो दिए थे। अभी भी ये किसी लड़की को विदा होते हुए नहीं देख पाते। यहां तक कि नाटक-सिनेमा देखते-देखते रो पड़ते हैं।

चूंकि इन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में खिचड़ी खाई, इसलिए भोजन में आज भी इन्हें खिचड़ी और दही अत्यंत प्रिय है। बचपन में इतनी मछलियां मारकर खाई हैं, इसलिए आज भी इन्हें मछली और भात बहुत पसंद है। भुनी हुई हरी मिर्च भी इन्हें अच्छी लगती है।

गांव में पैदा होने के कारण वहां के संस्कार इनमें अभी भी हैं, जैसे खेती आदि। सो छोटा-सा घर होते हुए भी अपने घर में छोटा-सा खूबसूरत-सा बगीचा बनाया है जिसे खूब प्रेम से खींचते, गोड़ते रहते हैं।

इन्हें किसी भी काम को करते हुए तनिक भी संकोच नहीं होता, चाहे तो झाड़ू का काम हो, चाहे शौचालय का गंदा दिखने में यह उन्हीं कपड़ों में सफाई के लिए तैयार हो जाते हैं, साफ करने में। एक दिन पिताजी ने मां से कहा कि हम लोगों की अब उम्र बड़ी हो रही है सो हम लोगों को नमक और चीनी कम कर देनी चाहिए। मेरी मां इतनी सीधी उन्होंने झट मान लिया और कोशिश करने लगी। नमक कम खाने के चक्कर में कुछ जरूरत से ज्यादा ही नमक अक्सर डाल जाती हैं। शुरू में तो मां की माफी से काम चल जाता फिर हल्की-सी हम बच्चों की तरफ से गुस्सा पर बाबूजी हमेशा बड़े प्यार से यही कहते हैं कि ये मुझे नमक इसलिए ज्यादा खिला रही हैं ताकि मैं नमक अदायगी कर सकूं। अब ऐसा होने पर भी यह वही वाक्य दोहराते हैं और नमक की अधिकता से दुखी मां को हंसाने के लिए कहते हैं कि देवीजी, बहुत नमक खिलाया, मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि आपके प्रति वफादार रहूंगा। बस सब लोग खुश हो जाते हैं।

उधर गांव में इनका व्यवहार देखकर मैं दंग हो जाती हूं। कभी-कभी मुझे बड़ी ही झुंझलाहट होती है। क्योंकि वहां पर इनकी मजबूरी कोई भी नहीं समझता। और हमेशा इन पर लोग अत्याचार करते हैं। उनके मन में हमेशा रहता कि ये दिल्ली जैसी बड़ी जगह में रहते हैं तो हमेशा इन लोगों की जेब में एक लाख रुपया तो होगा

ही। सो उन लोगों की हमेशा कोई न कोई फरमाइश रहती ही है। कभी हमारे बाबाजी का हुक्म आता है कि इतने रुपये भेजो। कभी ये भेजो, कभी वो भेजो और बाबूजी हैं कि बिना कारण पूछे भेज भी देते हैं। कभी मकान, कभी खेत, कभी बैल, कभी बाग आदि और इनके अलावा यहां दिल्ली का खर्चा, इन सबके लिए इन्हें बहुत ही ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है। पर ये चुपचाप सब करते हैं और हम लोगों के झुंझलाने पर अत्यंत सहज होकर कहते हैं, ये उनका अधिकार है। मुझ पर ऋण है। प्रेम है।

कभी अचानक तार आता है कि गांव जल्दी पहुंचो। हमारे बाबूजी जो भी गाड़ी मिले, जाने को तैयार हो जाते हैं।

इन्हें अपनों से क्या सबसे बहुत प्रेम है। ये अपने बड़े भाई की बहुत इज्जत करते हैं तथा छोटे भाई को बहुत प्यार करते हैं। इनके साथ रहते हुए कोई भी बहुत खुशी का, आनंद का अनुभव करता है।

बसंत में खिले हुए फूल की तरह बाबूजी जहां कहीं भी जाते हैं, अपनी खुशबू दूर-दूर तक फैलाते हैं।

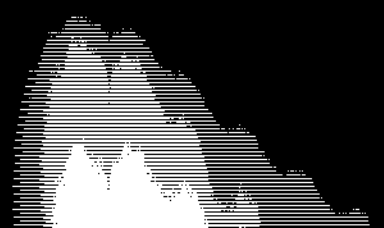

है। कभी हमारे
कभी वो भेजो और
भी खेत, कभी बैल,
के लिए इन्हें बहुत
और हम लोगों के
पर ऋण है।

भी जो भी गाड़ी

बहुत इज्जत
हुए कोई भी

अपनी खुशबू

दूसरा आयाम

नाटककार

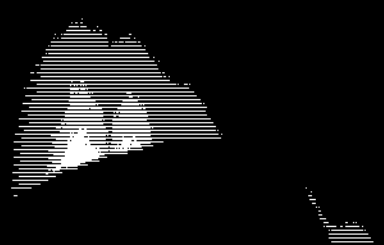

परिप्रेक्ष्य-परिवेश-प्रेरणा

डा० माहेश्वर

हिंदी नाटक पर या हिंदी के किसी नाटककार पर बात करनी हो तो शुरुआत भारतेंदु से करनी होगी। इसलिए नहीं कि भारतेंदु के आख्यान के बिना बात पूरी नहीं होती, बल्कि इसलिए कि हिंदी नाटक और रंगमंच के पूरे परिप्रेक्ष्य और उसके विकास की चर्चा किए बिना, आधुनिक नाटक अथवा आधुनिक नाटककार पर कोई रचनात्मक टिप्पणी नहीं की जा सकती। भारतेंदु को हिंदी के आधुनिक साहित्य में बहुत कुछ नया करने का श्रेय प्राप्त है। उन्हें आधुनिक हिंदी साहित्य—विशेषतः हिंदी नाटक का—जन्मदाता भी कहा जाता है। किंतु भारतेंदु ने हिंदी नाटक को जो दिशा दी उसमें उनकी अभिजात रुचि के कारण एक ऐसी गलती रह गई जिसने आधुनिक नाटक के विकास में बाधा पहुंचाई। भारतेंदु ने आधुनिक नाटक को जन्म तो दिया किंतु उसे उसके जीवन स्रोत से काटकर अलग कर दिया। उनकी अभिजात रुचि को पारसी थियेटर तथा इंदर सभा की परंपरा कुत्सित लगी और उन्होंने एक प्रकार से इन दोनों व्यवसायी जन-नाट्य प्रवृत्तियों का विरोध करना आधुनिक हिंदी नाटक के लिए हितकर मान लिया।

हरिश्चंद्र राजा थे। उन्हें अनपढ़ तथा रुचिहीन जनता को प्यारा रंगमंच अगर कुरुचिपूर्ण लगा तो उनका क्या दोष? वस्तुतः भारतेंदु का समय एक ऐसा समय था जब जनता की आकांक्षाओं और आम आदमी की रुचियों को विशिष्ट बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा कुत्सित मानना स्वाभाविक था। पश्चिम से आती हुई रोशनी हमारे बुद्धिजीवियों को अंधा बना रही थी। रोशनी की चकाचौंध से घबड़ाकर कभी-कभी वे अपने पीछे की ओर देखते थे तो उन्हें उनका पुराना अतीत सुनहरे रंगों में झिल-मिलाता दीख पड़ता था। हीन भावना से ग्रस्त होकर पश्चिमी दुनिया की उपलब्धियों को या तो वे आंख मूंदकर स्वीकार लेते थे या फिर प्रतिक्रियास्वरूप अपने पुराने इतिहास में भागकर छिप जाते थे। औद्योगिक क्रांति के द्वारा लाई गई पश्चिम की आधुनिक चेतना के समक्ष वे अपना 'क्लासिकल' साहित्य खड़ा करके अपनी हीन भावना को छिपाते थे।

भारतेंदु ने इन दोनों के समन्वय का रास्ता अपनाया। उन्होंने संस्कृत की

रीतिबद्ध और कठोरता से परिभाषित नाट्य रूढ़ियों के साथ पश्चिम की आधुनिक नाट्य रूढ़ियों का सामंजस्य करने की असफल कोशिश की। उन्होंने पश्चिम के अनुकरण पर दृश्यों में विभाजित तीन अंकों वाले पूर्णांग नाटक भी लिखे और संस्कृत की शैली से प्रभावित प्रहसन, नाटिका आदि भी। उन्होंने बंगला से अनुवाद भी किए और मौलिक नाटक भी लिखे। यहां उनसे दूसरी भूल हुई। वस्तुतः संस्कृत की क्लासिकल शैली को पाश्चात्य साहित्य की आधुनिक शैली के साथ समंजसित नहीं किया जा सकता था। बंगला से तथा अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं से अनुवाद करके भी आधुनिक हिंदी नाटक की रचना नहीं की जा सकती थी। प्रभाव ग्रहण करने में जगह-जगह से नाट्य कला के कितने ही रंगीन पत्थर चुनकर लाने में और हिंदी नाट्य कक्ष को रंग-बिरंगा बनाने में उनसे कोई कोताही नहीं हुई। मगर उन्हें अपने पांव तले की जमीन दिखाई नहीं दी। हिंदी नाटक के रंगमहल की नींव हिंदी की व्यवसायी-अव्यवसायी लोक नाट्य परंपराओं और जननाट्य रीतियों में स्थापित करने के बजाए उन्होंने उसे पूर्व और पश्चिम की नाट्य रीतियों के अवधारणात्मक परिज्ञान के दलदल पर खड़ा किया।

नाटक से रंग अलग हो गया। नाटक से नृत्य और गीत अलग हो गए। नाटक से व्यवसाय अलग हो गया। सुरुचि के नाम पर नाटक से मनोरंजन अलग हो गया। आम जनता के हाथ से निकलकर हिंदी नाटक जमींदारों, और मध्यवर्गीय खोखले बौद्धिकों के हाथ में पहुंच गया। नाटक दृश्य काव्य के बदले शुद्ध काव्य रह गया यानी उसमें से दृश्य गायब हो गया। काशी के बनारस थियेटर के बावजूद भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके सहरंगकर्मी थियेटर का निर्माण नहीं कर सके। काठियावाड़ की श्री सूर-विजय और मेरठ की व्याकुल भारत, बंबई की पारसी थियेटर कंपनियां, माधव शुक्ल द्वारा परिचालित श्री रामलीला नाटक मंडली, कानपुर की भारतरंजिनी सभा और इंटरटेनमेंट क्लब आदि शौकीन संस्थाओं तथा कलकत्ते में माधव शुक्ल द्वारा स्थापित हिंदी नाट्य परिषद की गतिविधियां धीरे-धीरे समाप्त हो गईं और नाटक केवल पाठ्य ग्रंथ बनकर रह गए।

इसका नतीजा हिंदी नाटक और रंगमंच के विकास के लिए बेहद खतरनाक सिद्ध हुआ। 19वीं शताब्दी के सातवें दशक से लेकर 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक हिंदी नाटक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि संख्या में विपुल होते हुए भी हिंदी नाटक रंग, गुण तथा नाटकीय अंतर्वस्तु एवं रचनात्मक नाट्यकला की दृष्टि से अंधकार युग कहा जाएगा।

इसके बाद हिंदी का पहला प्रतिभाशाली नाटककार प्रसाद मंच पर आया, किंतु प्रसाद का पूरा नाट्य साहित्य दरअसल हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास की एक दुर्घटना है। नाट्यकला की दृष्टि से और नाटक को उसके सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने से हम प्रसाद की नाट्य प्रतिभा के बारे में एकदम विपरीत निष्कर्षों पर पहुंचते हैं। वस्तुतः भारतेंदु ने नाटकों का जो गलत विभाजन किया था और नाटकों को लोक-रुचि तथा लोकमंच से काटकर अलग कर दिया था उसका प्रभाव इतना गहरा था और

प्रसाद तक आते-आते उसकी रूढ़ियां इतनी जड़ पकड़ चुकी थीं कि प्रसाद के लिए भी उनसे मुक्त हो पाना संभव न था। प्रसाद की नाट्यकला पर बंगला का—विशेषत: द्विजेंद्र लाल राय और गिरीश घोष का—गहरा प्रभाव था। प्रसाद संस्कृत की क्लासिकल नाट्य शैली और बंगला के माध्यम से प्राप्त की गई सैक्सपीरियन शैली के सामंजस्य का अद्‌भुत नमूना थे। कालिदास और शेक्सपियर की तरह प्रसाद हमें प्रभावित और चकित करते हैं, किंतु उनके समूचे नाटक साहित्य में हम आधुनिक जीवन को नहीं पाते; केवल आधुनिक जीवन की परछाइयां बीच-बीच में तैरती नजर आती हैं। प्रसाद की भाषा उनके इस अंतर्विरोध को बहुत स्पष्टता से हमारे सामने रखती है। वह एक नकली अभिजातवर्गीय संस्कृतनिष्ठ गरिष्ठ भाषा है, जो प्रसाद के नाटकों को रंगमंच से दूर करती है, जनता से दूर करती है और हिंदी नाटक को उसकी जड़ों से अलग रखती है।

प्रसादोत्तर काल में हिंदी के प्रमुख नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी,' उपेंद्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर और रामकुमार वर्मा का नाम लिया जा सकता है। विपुल नाट्य साहित्य रचने के बावजूद सेठ गोविंददास को नाटककार मानना मेरे लिए मुश्किल है। उदयशंकर भट्ट के सांस्कृतिक नाटक अलग से दिखाई देते हैं, किंतु उनका स्रोत बंगला नाटक में इतना साफ दिखाई देता है, खास तौर से रवींद्रनाथ ठाकुर का प्रभाव उन पर इतना गहरा है, कि उन्हें मौलिक नाटककार मानना संगत नहीं लगता। विशिष्ट नाट्य प्रतिभा के बावजूद उपरोक्त नाटककारों में केवल भुवनेश्वर और एक सीमा तक 'अश्क' ऐसे नाटककार हैं जिन्हें मौलिक कहा जा सकता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र पर इब्सन, गाल्सवर्दी और 'शॉ' का प्रभाव फूहड़पन की सीमा तक देखा जा सकता है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' किसी-किसी कोण से अलग दिखाई देते हुए भी प्रसाद शैली के ही नाटककार हैं। वस्तुत: भुवनेश्वर, अश्क और रामकुमार से आधुनिक हिंदी नाट्य रचना की अपनी तथा मौलिक शुरुआत होती है।

पांचवें दशक के बाद हिंदी में कुछ ऐसे मौलिक नाटककार सामने आते हैं जिनकी नाट्य कृतियों को हम हिंदी की मौलिक नाट्य प्रतिभा का उन्मेष मान सकते हैं। इनमें जगदीशचंद्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल और राकेश का नाम आता है। जगदीशचंद्र माथुर ने बहुत कम नाटक लिखे हैं किंतु उनके नाटकों में हमें आधुनिक जीवन की धड़कनें बहुत पास से सुनाई देती हैं। 'कोणार्क' जैसे मिथिकीय नाटक में भी हमें 20वीं शताब्दी की समस्याएं साफ दीखती हैं, किंतु माथुर की रचनाओं में एक विशेष प्रकार की अतिनाटकीयता और अतिआधुनिकता है, जो उन्हें आधुनिक तो बनाती है किंतु हिंदी नाट्य रचना की संभावनाओं को पूरी तौर से उजागर नहीं करती। वस्तुत: जगदीशचंद्र माथुर अपनी मध्यवर्गीय बौद्धिकता, शिष्ट रुचि और नाटक की आदर्शवादी परिकल्पना से रचित ढांचे को नाटक के भीतरी प्रभाव और रंग कौशल से जोड़ नहीं पाते। कुल मिलाकर वे नाटककार की उस छटपटाहट को व्यक्त करके रह

जाते हैं, जो ठोस जमीन की तलाश में जनता और सामूहिक समस्याओं की ओर जाने को छटपटा रहा है।

राकेश शुद्ध रूप से मध्य वर्ग के नाटककार हैं। उनमें वह छटपटाहट भी नहीं दीखती जो जगदीशचंद्र माथुर में है। उनके सभी नाटक और उनकी पूरी नाट्य-कला बड़ी कुशलता से मध्यमवर्गीय रोमान और आत्मदया के साथ-साथ आत्म-विघटन का साक्षात्कार करती हुई सचेत और सतर्क नाट्य रचना का आभास देती है। राकेश का शिल्प भी इसी कारण या तो बनावटी लगता है या रोमानी। राकेश की एक ही खूबी है—संवाद रचना। संवाद के माध्यम से राकेश एक तीखे नाटकीय तनाव का सृजन करते हैं, जो हिंदी नाटक साहित्य में भुवनेश्वर के अलावा और किसी नाटककार की रचनाओं में नहीं दीख पड़ता। उनकी रचना एक दूसरे धरातल पर शिल्प के साथ इस तरह पूरा-पूरा जुड़ती है कि नाटक का असर दर्शक पर गहरा पड़ता है और वह उससे अभिभूत हो उठता है। कभी-कभी आश्चर्य भी होता है कि राकेश को नाट्य समीक्षकों ने ही नहीं, दर्शकों ने इतना महत्त्व क्यों दिया। इस आश्चर्य का कारण नपे-तुले तथा जीवंत संवादों के माध्यम से एक विशिष्ट नाटकीय तनाव की सृष्टि करने की उनकी क्षमता के भीतर निहित है।

लक्ष्मीनारायण लाल हिंदी की समूची नाट्य परंपरा में पहले नाटककार हैं जिनमें हिंदी की मौलिक नाट्य रचना के मूलाधार और उसकी रंग शक्ति तथा नाट्य संभावनाएं धीरे-धीरे विकसित होकर पहली बार प्रकट हुई। कहा जा सकता है कि नाटककार लाल शुद्ध रूप से मध्यवर्गीय नाटककार नहीं हैं। उनकी नाटकीय समस्याएं केवल मध्य वर्ग की नहीं हैं, न ही केवल बौद्धिक हैं। शिल्प के धरातल पर कभी-कभी संवादों की रचना में अतिरिक्त बौद्धिकता का आभास मिलता है, किंतु लाल की नाट्य संवेदना का मूल बिंदु गहरे में जन-जीवन की यानी वास्तविक जीवन की समस्याओं से जुड़ा होता है। नाटककार लाल में हम हिंदी नाटक और रंगमंच के एक ऐसे व्यक्तित्व को देखते हैं, जो लगातार न केवल नाट्य रूढ़ियों और रंग रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश में लगा हुआ है बल्कि बार-बार वह अपनी ही इमेज को तोड़ता चलता है। 'जेनुईन,' ठोस और भारतीय संदर्भों से बहुत गहरे जुड़े हुए हिंदी नाटक की तलाश जिसमें शिल्प, भाषा और वस्तु के स्तर पर ही नहीं, संवेदना और चेतना के स्तर पर भी भारतीय नाटक और रंगमंच को पाया जा सके, लाल के समूचे नाट्य जीवन की विशिष्टता है।

यहां मैं एक बात दोहराना चाहूंगा। एक बार फिर मैं भारतेंदु हरिश्चंद्र की ओर आपका ध्यान दिलाऊंगा। एक संपूर्ण भारतीय तथा मौलिक हिंदी नाटक और रंगमंच की यह तलाश बहुत कठिन हो गई है। इस कठिनाई के सृजन में भारतेंदु हरिश्चंद्र का हाथ है। नाटक को रंगमंच से, जनता से, मनोरंजन से, व्यवसाय से जोड़ने की यह कोशिश उतनी मुश्किल नहीं होती, अगर बंगला या मराठी या अंग्रेजी नाट्य-परंपरा की तरह हिंदी नाट्य कला को कुलीन और अकुलीन वर्गों में भारतेंदु ने न

बांटा होता। नाटककार लाल का काम तब शायद ज्यादा आसान होता। हिंदी में गद्य नाटकों और पाठ्य नाटकों की अनावश्यक तथा भारी भीड़ न खड़ी होती। हिंदी को व्यवसायी रंगमंच की कमी से आहत न होना पड़ता। इतना विपुल नाट्य साहित्य जिस भाषा में हो उसके एक विशिष्ट रंगकर्मी पृथ्वीराज कपूर को यह न कहना पड़ता कि हिंदी में नाटक नहीं हैं। आज भी शौकीन रंगमंच पर बादल सरकार, आद्य रंगाचार्य, ब्रेख्त, पू० ल० देशपांडे, विजय तेंदुलकर, जार्ज ओसबोर्न के अनुवाद भी पालथी मारे नहीं दिखाई देते।

एक नाटककार के रूप में इस खाई को भरने की कोशिश लक्ष्मीनारायण लाल की विशिष्टता है। हिंदी नाटक और रंगमंच के लिए और उसके जन-रंगमंच के निर्माण के लिए उच्चवर्गीय अभिजात्य तथा मध्यवर्गीय बौद्धिकता तथा आत्मकेंद्रितता से नाटक को छुड़ाकर जन-समस्याओं की ओर, जनता की ओर, जन रंगमंच की ओर ले जाने की यह कोशिश नाटककार लाल और उनकी पीढ़ी के तमाम रंगकर्मियों की असली समस्या है और भारतीय नाटक तथा रंगमंच के निर्माण में उनके योगदान की सही सार्थकता भी है।

परिवेश

नाटककार लाल के नाट्य-व्यक्तित्व को हिंदी की नाट्य परंपराओं ने जितना प्रभावित किया उतना ही उनके अपने परिवेश ने भी। कोई भी रचनाकार जिस सीमा तक अपनी परंपराओं और अपने परिप्रेक्ष्य का निर्माण होता है उसी सीमा तक बल्कि उससे कहीं अधिक अपने खुद के परिवेश से बनता है। रचनाकार परंपरा भी होता है और व्यक्ति भी। पुराना भी होता है और नया भी। सर्जक भी होता है और सृजित भी। इसीलिए नाटककार लाल के निर्माण में सहायक व्यक्तियों, संस्थाओं, विचारधाराओं और स्थितियों का उल्लेख आवश्यक है।

आज से बावन साल पहले (4 मार्च 1927 ई०) उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के जलालपुर नामक गांव में एक साधारण कायस्थ परिवार में इनका जन्म हुआ। जलालपुर गांव एक छोटी-सी नदी मनवर (मनोरमा) के किनारे बसा हुआ है। नदी के इस पार गांव है, छोटा-सा गांव, उस पार जंगल। जंगल में जामुन, बेर, घुनघुनिया के सटकर उगे हुए दरख्त हैं। और इनके बीच छोटे-मोटे जंगली जानवरों की भीड़। लाल का आरंभिक जीवन इसी गांव में बीता और धरती के प्रति, हिंदुस्तान के किसान के प्रति, सामान्य जीवन की समस्याओं के प्रति उनकी रुचियों और दृष्टिकोणों का निर्माण यहीं पर हुआ। चौदह वर्ष की आयु तक इसी गांव में सामान्य खेतिहर पिता मुंशी शिवसेवक लाल और साधारण गृहणी माता श्रीमती हीरा मूंगा देवी के सान्निध्य में रहकर इन्होंने बिताए। शहर के अभिजात्य जीवन का आदी हिंदी का एक वरिष्ठ साहित्यकार शहर में मध्यवर्गीय जीवन जीने वाला लेखक लक्ष्मीनारायण लाल अपनी जमीन से कट नहीं पाता। इसका श्रेय इन चौदह वर्षों के जीवन को है।

गांव से एक मील की दूरी पर स्थित बहादुरपुर बाजार के प्राइमरी स्कूल में

नंगे पांव, नंगे सिर जो लड़का लगातार सर्दी, गर्मी, बरसात सहता हुआ आता-जाता है, गांव से पांच मील उत्तर पिपरागौतम गांव के मिडिल स्कूल में उसी तरह नंगे पांव, नंगे सिर अगले पांच वर्षों तक जो लड़का यात्रा करता है, मिडिल स्कूल पास करने के बाद एंग्लो संस्कृत हाई स्कूल, बस्ती में पढ़ने आने पर लंबी चुटिया और छोटे कटे बालों वाले जिस लड़के को देखकर शहरी लड़के हंसते हैं, और जो गांव के मिडिल स्कूल में पढ़ने के कारण सालों तक 'मिडिलची' कहे जाने की शर्म को सहता है, वह लक्ष्मी-नारायण लाल इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक बनकर (1948 ई० में) एम०ए० और डी० फिल० प्राप्त करके, बाद में सी० एम० पी० कालेज, इलाहाबाद और इलाहाबाद विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन करके नेशनल बुक ट्रस्ट की एडीटरी करके और फिर उसे छोड़कर लेखन की कमाई से मध्यवर्गीय जिंदगी जीकर भी, यदि अपने बचपन की पांव में फटी बिवाइयां, ब्राह्मण-क्षत्रीय जैसे उच्चवर्ण के बच्चों का उपहास जमींदार की मुंशीगिरी करने वाले पिता का दैन्य, दिन-रात मशीन की तरह खटने वाली घोर-गंभीर माता का संघर्ष नहीं भूल पाता, मनवर नदी के उस पार के घने जंगलों को नहीं भूल पाता; उनमें घूमते गीदड़, खरगोश, नीलगाय, सांप वगैरह को नहीं भूल पाता, इसीलिए जो भारतीय जिंदगी की माटी से कटकर अलग नहीं हो पाता, मध्यम वर्गीय बौद्धिक लेखक जिसे भरी सभा में 'गबार' कहते हैं वह लक्ष्मीनारायण लाल इसीलिए महत्वपूर्ण है कि वह अपने व्यक्तित्व में, अपनी चेतना में, अपनी रचना में और अपने नाटक में गांव की नौटंकी को नहीं भूल पाता; गांव से सात मील दूर बहादुरपुर की रामलीला को नहीं भूल पाता, और आठवें दशक में लिखे जाने वाले आधुनिक नाटक में उन्हें उतारने की कोशिश करता है, तो मध्यवर्गीय लेखक, आलोचक उसे गंवार तो कहेंगे, मगर हिंदी नाटक को सही जमीन की तलाश इसके बिना नहीं हो सकेगी।

1946 में एंग्लो संस्कृत हाई स्कूल, बस्ती से इंटरमीडिएट करने के बाद लक्ष्मीनारायण लाल के पिता चाहते थे बेटा नौकरी करे। पटवारी बनने के लिए तो मिडिल स्कूल ही काफी था। इंटर पास करके तो हृष्ट-पुष्ट लक्ष्मीनारायण लाल दारोगा भी बन सकता था। पिता शिवसेवक लाल के लिए बेटे का दरोगा बन जाना उनके लिए सबसे बड़ी नियामत थी और कुछ नहीं तो कायस्थों का पुस्तैनी धंधा पटवारियान ही क्या बुरा था। अंग्रेजों के जमाने में प्रशासन का सबसे निचला यंत्र पट-वारी गांव के खेतिहरों के लिए खुदा हुआ करता था। मगर लक्ष्मीनारायण लाल बहादुरपुर की रामलीला रामजनम से लेकर भरत मिलाप तक मनोयोग से देखा करते थे। उनके मन में लीला कहीं बहुत गहरे पैठ गई थी। जमींदार का मुंशी होना या पट-वारी होना या कि दरोगा हो जाना उन्हें मंजूर नहीं था।

लक्ष्मीनारायण लाल दरोगा होने के लायक भी थे। बचपन से ही हृष्ट-पुष्ट और मार-पीट करने वाले लड़कों में गिने जाते थे। गांव की गालियां भी धुआंधार निकलती थीं इनकी जबान से, खास तौर से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उन सपूतों के प्रति जो सिर्फ उच्च कुल या संपन्नता के बल पर लक्ष्मीनारायण की पिटाई और अपमान करने की कोशिश करते थे। लक्ष्मीनारायण ने कुश्ती लड़ने और कसरत करने का

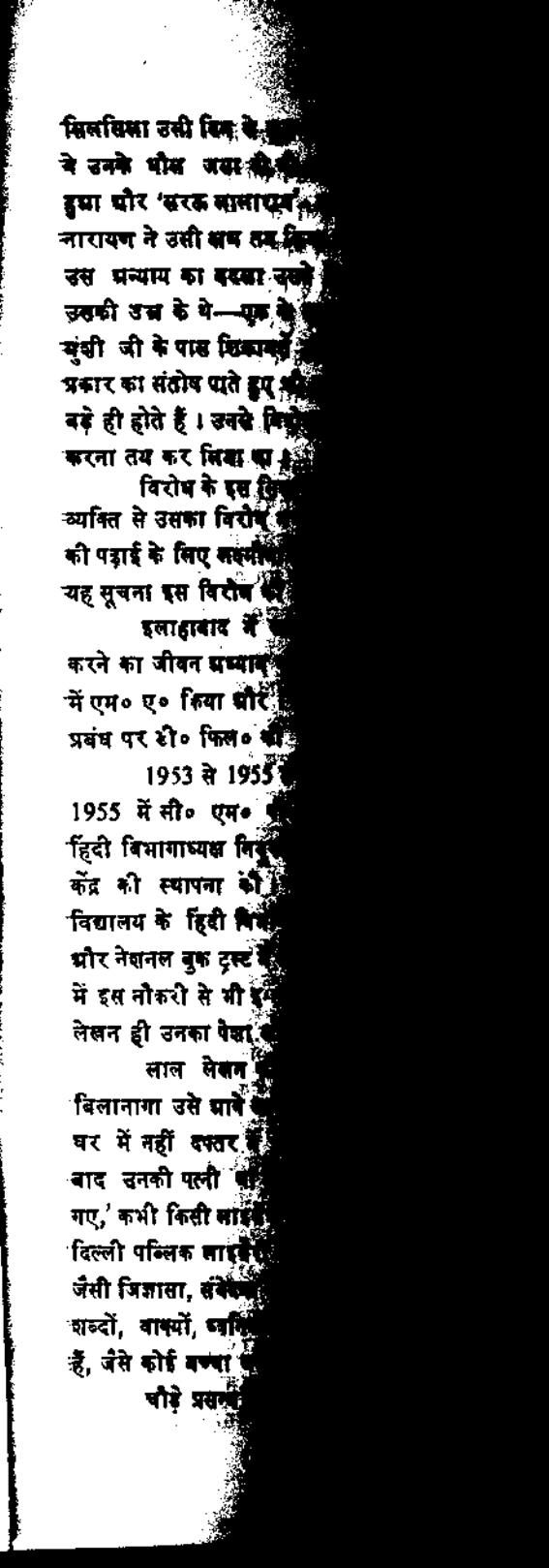

सिलसिला उसी दिन से शुरू किया था, जिस दिन एक जमींदार ठाकुर के मनबढ़े लड़के ने उनके धौल जमा दी थी और विरोध करने पर लंगड़ी मारकर चित्त करके हंसता हुआ और 'सरऊ लालाराम' कहकर गरूर से अकड़ता हुआ चला गया था। लक्ष्मी-नारायण ने उसी क्षण तय किया था कि वह इस अन्याय का बदला जरूर लेगा। और उस अन्याय का बदला उसने लिया। कुश्ती में ठाकुरों और बाम्हनों के सपूतों को जो उसकी उम्र के थे—एक के बाद एक मिट्टी चटाई। बहरहाल, वह गांव की बात थी। मुंशी जी के पास शिकायतें भी आई थीं, लड़के के अहं भाव से कहीं बहुत गहरे में एक प्रकार का संतोष पाते हुए भी उन्होंने ऊपरी तौर पर उसे डांटा था। बताया था कि बड़े, बड़े ही होते हैं। उनसे विरोध करना ठीक नहीं। परंतु लक्ष्मीनारायण लाल ने विरोध करना तय कर लिया था।

विरोध के इस सिलसिले में कहीं पिता शिवसेवक लाल भी थे। सिर्फ एक ही व्यक्ति से उसका विरोध न था। मां से। 1946 में इंटरमीडिएट करने के बाद बी० ए० की पढ़ाई के लिए लक्ष्मीनारायण ने पिता का विरोध किया। पिता आगे नहीं पढ़ाएंगे, यह सूचना इस विरोध की जड़ में थी। वह भागकर इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद में लक्ष्मीनारायण लाल के वास्तविक स्वावलंबन से अध्ययन करने का जीवन अध्याय शुरू हुआ। 1948 में स्नातक परीक्षा पास की, 1950 में हिंदी में एम० ए० किया और 1952 में वहीं से 'हिंदी कहानी की शिल्पविधि' विषयक शोध प्रबंध पर डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की।

1953 से 1955 तक एस० एम० कालेज चंदौसी में हिंदी के अध्यापक रहे। 1955 में सी० एम० पी० कालेज (चौधरी महादेव प्रसाद कालेज) इलाहाबाद में हिंदी विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए। इसी दौरान 1956 में इन्होंने इलाहाबाद में नाट्य केंद्र की स्थापना की। 1965 में विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़कर दिल्ली विश्व-विद्यालय के हिंदी विभाग में (1965-1971) आ गए। सन् 1972 में उसे भी छोड़ा और नेशनल बुक ट्रस्ट में संपादक बन गए। यह उनकी अंतिम नौकरी थी। सन् 1972 में इस नौकरी से भी इस्तीफा देकर लाल स्वतंत्र लेखन में लग गए। आज भी स्वतंत्र लेखन ही उनका पेशा और उनकी जीविका का साधन है।

लाल लेखन को धर्म की तरह आस्था से पकड़े हुए हैं और व्यवसाय की तरह बिलानागा उसे आगे बढ़ाते जा रहे हैं। सुबह नौ बजे के बाद जैसे नौकरीपेशा अपने घर में नहीं दफ्तर में मिलता है, उसी तरह लाल के घर के टेलीफोन पर नौ बजे के बाद उनकी पत्नी या बच्चों की आवाज सुनाई देगी। पूछने पर वे कहेंगे 'वे तो चले गए,' कभी किसी लाइब्रेरी में, कभी किसी वाचनालय में, कभी तीन मूर्ति भवन में, कभी दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी में। अनवरत लेखन, अनवरत बहस, अनवरत अध्ययन, बच्चों जैसी जिज्ञासा, संवेदना को, विचार को, जीवन को, कभी-कभी अच्छे लग जाने वाले शब्दों, वाक्यों, ध्वनियों और मुद्राओं तक को भी वे अपने दिमाग में पकड़ते चले जाते हैं, जैसे कोई बच्चा जाल लेकर तितलियों के पीछे भागता है।

चौड़े प्रसन्न सांवले चेहरे पर निर्द्वंद्वता और मुस्कान लिए हर किसी का

विनम्रता से स्वागत करते हुए, बुजुर्ग विद्वानों की सभा से लेकर नेशनल स्कूल आफ ड्रामाके कच्ची उम्र के विद्यार्थियों और कलकत्ते के शिक्षायतन कालेज की अध्यापिकाओं और अनामिका (नाट्य संस्था, कलकत्ता) के रिहर्सलों तक लक्ष्मीनारायण लाल समान सरलता-सौजन्य और अक्खड़पन के साथ अपने को व्यक्त करते हुए मिलेंगे।

व्यवहार में यह व्यक्ति विनम्र ही नहीं कुशल भी है। विचारों को व्यक्त करने में अक्खड़ होते हुए भी विरोधी विचारों को सहने में समर्थ है। अपनी बात पूरी संजीदगी से कहते हुए भी दूसरे की बात सुनने को तैयार, समझ में आ जाए तो मानने को भी। किसी प्रश्न को चाहे वह राजनीतिक हो, चाहे सामाजिक, चाहे रचनात्मक या वैज्ञानिक, वे हर एक से बात करके सुलझाने की कोशिश में लगे होंगे। जिसकी बात उन्हें सही लगेगी उसे स्वीकार करेंगे जिसकी गलत लगेगी उसे अस्वीकार। किंतु इससे उस व्यक्ति के प्रति उनकी धारणाओं में कोई बड़ा अंतर नहीं पड़ेगा। आदर का पात्र गलत बात करके भी कभी अनादर नहीं पाएगा। कभी-कभी कटु आलोचना और निंदा से क्षुब्ध होकर अगर प्रतिक्रिया में कोई बात गलत कह जाएंगे, तो शांत होने पर उसे सोचेंगे और अगर अपना रवैया अन्यायपूर्ण लगेगा तो उस व्यक्ति से मिलने पर क्षमा मांगेंगे। सिर्फ क्षमा मांगने के लिए उसे ढूंढ़ेंगे नहीं।

लेखक के रूप में व्यावसायिक रूप से भी सफल माने जाने वाले डा० लाल अपनी रचनाओं में कलात्मक और व्यावसायिक संतुलन कायम रखने की कोशिश में सदा रहते हैं। उपन्यास, कहानी (बहुत कम) और नाटक लिखते हुए कभी-कभी आलोचना पर भी हाथ साफ कर लेते हैं। लक्ष्मीनारायण लाल एक सफल लेखक हैं। लिखने के लिए जो विषय भी उठाते हैं (भले ही वह जयप्रकाश की जीवनी हो) उस पर काफी गंभीरता से अध्ययन-मनन करके संबंधित व्यक्तियों, स्थानों तथा ऐतिहासिक अभिलेखों आदि का अध्ययन करने के बाद निष्ठा के साथ उसमें जुड़ते हैं। अंग्रेजी में जिसे हम प्रोफेशनल राइटर (व्यवसायी लेखक नहीं लेखन व्यवसायी) कहेंगे उसका एक रूप हमें लक्ष्मीनारायण लाल में मिलता है। मगर चेतना के स्तर पर और अंतर-निहित उद्देश्य के स्तर पर डा० लाल का विचारक लेखक उनके लेखन व्यवसायी पक्ष के सामने कभी घुटने टेकता नहीं मिलेगा। पाठ्य-पुस्तक के रूप में लगवाने के लिए भी प्रकाशक उनसे नाटक लिखने को कहेगा, तो उस नाटक में वे केवल इसलिए व्यवस्था की चमचागिरी नहीं कर पाएंगे कि वह नाटक पाठ्यक्रम में शामिल हो जाएगा, उसे सात लाख विद्यार्थी पढ़ेंगे और उसकी एक लाख प्रतियां बिक जाएंगी।

लाल सिद्धांत को और साहित्य को ही नहीं व्यवसाय को भी गंभीरता से लेते हैं। कोई भी प्रकाशक क्या मजाल उनकी रायल्टी पचा जाए। व्यवसायी से वह अपने हर सहयोग की कीमत अदा कर लेते हैं। व्यवसायी को वे बेहद शूड (चालाक) और गैर लचीले लगते हैं।

डा० लाल ने अपने व्यक्तित्व को और अपने रचनात्मक संसार को, अपने सामाजिक को, कड़े अनुशासन में रखा है। उनका एक पक्ष दूसरे के साथ बहुत कम समझौते करता है। परिवार में भी वे इस अनुशासन के कायल हैं। बड़े बौद्धिकों जैसी लापरवाही और

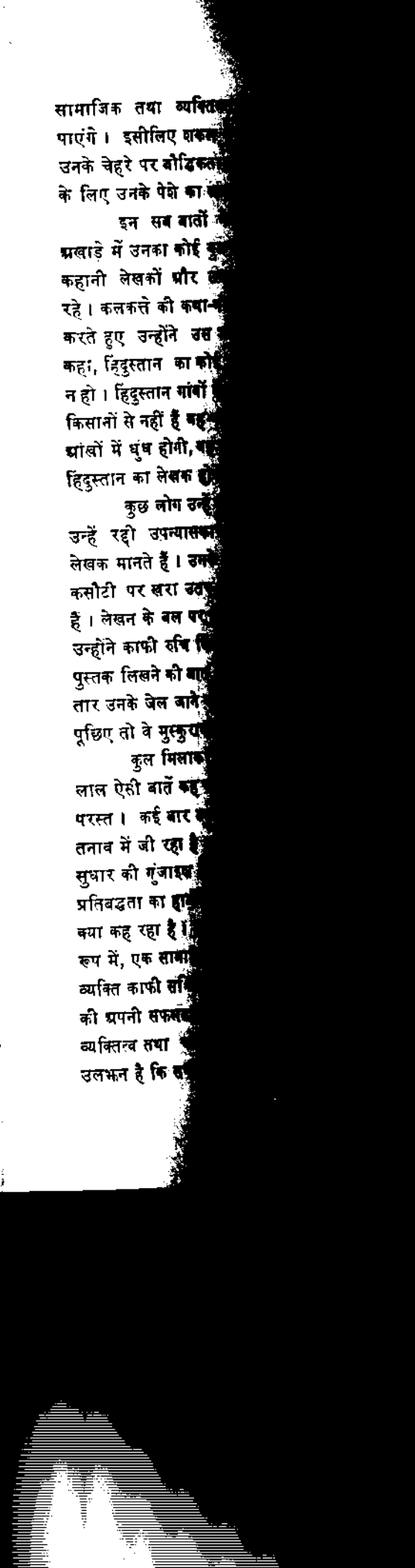

सामाजिक तथा व्यक्तिगत संदर्भों के प्रति अनुत्तरदायित्वपूर्ण रवैया उनमें आप नहीं पाएंगे। इसीलिए शकल से डा० लाल आपको और जो भी लगें, बौद्धिक नहीं लगेंगे। उनके चेहरे पर बौद्धिकता की कोई नकाब नहीं होगी। उन्हें देखकर किसी अपरिचित के लिए उनके पेशे का अंदाजा लगाना करीब-करीब गैर-मुमकिन है।

इन सब बातों के बावजूद लाल एक विवादास्पद व्यक्तित्व है। साहित्य के अखाड़े में उनका कोई गुट नहीं। अगर होगा तो बहुत प्रच्छन्न। काफी दिनों तक कहानी लेखकों और उपन्यास लेखकों के बीच वे ईर्ष्या, द्वेष और झगड़े का कारण बने रहे। कलकत्ते की कथा-गोष्ठी में उन्हें 'गंवार लेखक' कहा गया। इस पर प्रतिक्रिया करते हुए उन्होंने उस भर्त्सना को प्रशंसा के रूप में लिया। उन्होंने एक बार मुझसे कहा, हिंदुस्तान का कोई भी लेखक तब तक लेखक नहीं हो सकता जब तक वह गंवार न हो। हिंदुस्तान गांवों में ही है। जो गंवार नहीं है, जिसके संबंध गांवों से और किसानों से नहीं हैं वह नकली लेखन करेगा। वह पश्चिम का मुखौटा पहनेगा, उसकी आंखों में क्षुध होगी, वह कामू, काफ्का और ब्रेख्त की रट लगाते-लगाते मर जाएगा। हिंदुस्तान का लेखक होने के लिए गंवार होना जरूरी है।

कुछ लोग उन्हें अच्छा उपन्यासकार मानते हैं और रद्दी नाटककार। कुछ लोग उन्हें रद्दी उपन्यासकार मानते हैं और अच्छा नाटककार। कुछ लोग उन्हें व्यवसायी लेखक मानते हैं। उनके हिसाब से कोई भी गंभीर और जेनुइन लेखक व्यवसाय की कसौटी पर खरा उतर ही नहीं सकता। लक्ष्मीनारायण लाल लगातार लिखते जा रहे हैं। लेखन के बल पर दिल्ली में खासी जिंदगी जी रहे हैं। जयप्रकाश के आंदोलनों में उन्होंने काफी रुचि दिखाई थी। पिछले दिनों सुनाई पड़ा, वे इंदिरा गांधी पर कोई पुस्तक लिखने की बात सोच रहे हैं। जयप्रकाश की जीवनी लिखने के बाद लोग लगातार उनके जेल जाने की आशंका से त्रस्त रहे। डा० लाल से इन अफवाहों के बारे में पूछिए तो वे मुस्कुराएंगे। मतलब होगा--सुनते जाइए।

कुल मिलाकर लोग लाल के बारे में आश्वस्त नहीं हैं। सभाओं में कभी-कभी लाल ऐसी बातें कह जाएंगे जो लोगों को या तो बेहद अनगढ़ लगेंगी या बेहद समझौता-परस्त। कई बार डा० लाल से बातें करने पर लगेगा यह आदमी अजीब वैचारिक तनाव में जी रहा है। प्रसिद्ध लेखक होते हुए भी वैचारिक धरातल पर इसमें काफी सुधार की गुंजाइश है। यह दिग्भ्रमित है। यह किसी भी राजनीतिक विचारधारा या प्रतिबद्धता का हामी नहीं है। कभी-कभी लगेगा यह आदमी खुद नहीं जानता कि यह क्या कह रहा है। मगर एक बात बहुत साफ समझ में आती है कि एक व्यक्ति के रूप में, एक सामाजिक के रूप में, एक लेखक के रूप में, एक विचारक के रूप में वह व्यक्ति काफी सक्रिय है। काफी जीवंत है। लेखन व्यवसायी के रूप में भी उस व्यक्ति की अपनी सफलताएं हैं, इससे भी इनकार करना मुश्किल है। तमाम लोग लाल के व्यक्तित्व तथा चरित्र के बारे में इस अंतर्विरोध को हल नहीं कर पा रहे हैं। उन्हें उलझन है कि सफल लेखन-व्यवसायी कैसे गंभीर और प्रतिबद्ध लेखक हो सकता है।

उनके सामने सवाल है कि जो आदमी इतना अधिक लिखेगा, उसमें इतनी गहराई कहां से आएगी। आम लोगों के दिमाग में लेखक की बौद्धिकता की जो तस्वीर है—जो फटा हुआ पाजामा है, जो लंबी दाढ़ी है, जो अन्यमनस्क, गैर-व्यवसायी, शहीदाना अंदाज है, जो आम लोगों के प्रति ताच्छिल्य का भाव है—उसमें लक्ष्मीनारायण लाल कहीं फिट नहीं होते। फिर भी सभी जानते हैं लक्ष्मीनारायण लाल की चाहे जितनी अवज्ञा की जाए, उनके लेखन को इनकार नहीं किया जा सकता। उनकी बौद्धिकता पर चाहे जितने प्रश्न-चिह्न लगाए जाएं, उनकी रचनाओं को गंभीरता से लेना ही पड़ता है। मैं समझता हूं एक लेखक के लिए इतना कम नहीं है।

प्रेरणा

लक्ष्मीनारायण लाल को मैं मूलतः नाटककार मानता हूं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी कथा-कृतियों को और उनके आलोचना ग्रंथों को मैं नकारता हूं, बल्कि इसका सीधा अर्थ यह है कि लाल की उपलब्धियां मेरी दृष्टि में अगर महत्त्वपूर्ण हैं, तो नाटक के क्षेत्र में। यहां मैं स्पष्ट स्वीकार कर लूं कि यदि लाल ने नाटक और रंगमंच को अपनी रचनात्मकता का, अपने अध्यवसाय का एक बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण हिस्सा न बनाया होता तो साहित्यिक उपलब्धि के नाम पर उनके लेखन को बहुत गंभीरता से लेना कठिन था। उन्होंने लगातार उपन्यास लिखे हैं, कहानियां भी लिखी हैं, आलोचनाएं भी लिखी हैं किंतु इन तीनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की जब गिनती की जाती है, तो उनकी किसी रचना को स्थान देना बड़ा मुश्किल जान पड़ता है। किंतु नाटक के क्षेत्र में उनकी विद्यार्थी जीवन की आरंभिक रचनाओं के बाद लिखी पहली गंभीर नाट्यरचना 'मादा कैक्टस' अपने समय की एक उपलब्धि मानी जा सकती है।

लाल ने लगातार नाटक लिखे, लिखते जा रहे हैं। हो सकता है कि इन तमाम नाटकों में से कुछ एक ही महत्त्वपूर्ण और नया मोड़ देने वाले सिद्ध हों। ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से गिनती के नाटक ही समय के साथ अपनी पहचान कायम रख सकें, मगर इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि पिछले दो दशकों में हिंदी नाट्य लेखन के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण काम करने वाले नाटककार लाल ही हैं।

जो नाटक और रंगमंच को समझते हैं उन्हें मालूम है नाटक लिखना अन्य विधाओं के लेखन से कहीं अधिक कठिन काम है। इसमें जिस प्रकार की रचनात्मक क्षमता, बौद्धिक अनुशासन, भाषा की सूक्ष्मता और अनिवार्य संवेदनात्मक गहराई और तीव्रता, नाटकीय क्षणों की गहरी तथा तात्कालिक पहचान और रंगमंच के तमाम अवयवों की जितनी व्यापक समझ और उनके प्रति जो आस्था और सतर्कता अपेक्षित है वह किसी अन्य विधा में नहीं है। अन्य विधाओं की अपनी सीमाएं हैं, अपने अनुशासन हैं, किंतु नाटक का अनुशासन, नाटक की सीमा इन सब में लेखक से कहीं

अधिक निर्ममता और अनुशासन की मांग करते हैं। बेहद गिनी-चुनी प्रतिभाएं ही अन्य विधाओं के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में काम करने का साहस करती हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रसाद और अश्क जैसी बहुमुखी प्रतिभा के कम ही लेखक हैं। इन्हीं के साथ डा० लाल का नाम लिया जाना चाहिए। मोहन राकेश, रमेश बख्शी और इसी कोटि के दूसरे छिटपुट नाटककार अन्य क्षेत्रों में पीछे हटकर नाटक के क्षेत्र में आए।

नाटककार लाल के कृतित्व का मूल्यांकन करने से पहले मुझे जरूरी लगता है कि नाट्य लेखन में उन्हें प्रवृत्त करने वाले उन प्रेरणासूत्रों पर एक नजर डाल ली जाए जिन्होंने गहराई में उन्हें अनुप्रेरित तथा प्रभावित किया है।

बहादुरपुर की रामलीला में राम जनम से भरत मिलाप तक हर साल चलने वाली बचपन की प्रेक्षक की हैसियत से की गई यात्रा का जिक्र मैं कर चुका हूं। यह रामलीला कहीं बहुत गहरे डा० लाल के रचनात्मकता की बुनियाद में बैठी हुई है। अभी पिछले दिनों 'नरसिंह कथा' की पांडुलिपि पर बातचीत करते हुए डा० लाल ने इन पंक्तियों के लेखक को बताया कि वे अपने नाट्य लेखन के सबसे गंभीर दौर से गुजर रहे हैं। 'संस्कार ध्वज,' 'नरसिंह कथा,' 'गुरु,' 'सगुन पंछी,' (नाटक तोता-मैना का पुनर्लिखित रूप) को डा० लाल ने 'लीला नाटक' नाम से अभिहित किया और स्वीकार किया कि लोक रंगमंच से उन्होंने इन नाटकों में लीला का तत्त्व ग्रहण किया है। भारतीय नाट्य की विशेषता इन्हीं लोक रंगमंचों की परंपरा से अर्थात् लीला के विभिन्न नाट्य रूपों में प्राप्त होगी।

बहादुरपुर की रामलीला के बाद जब लक्ष्मीनारायण लाल एंग्लो संस्कृत हाई स्कूल, बस्ती में अध्ययन कर रहे थे तो उनका परिचय बंगला नाटक और बंग संस्कृति से हुआ। इस परिचय का माध्यम उक्त स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री बी० एन० चक्रवर्ती थे। लाल आज भी चक्रवर्ती महाशय को बड़ी कृतज्ञता से स्मरण करते हैं। लाल के रचना-स्रोतों में 15-16 वर्ष की अल्प आयु में चक्रवर्ती महाशय द्वारा प्राप्त बंगला नाटक और बंगला संस्कृति का वह परिचय भी शामिल है। स्कूल में खेले जाने वाले एकाध नाटकों में भी उन्होंने भाग लिया था। अभी तक लक्ष्मीनारायण लाल बहुत सक्रिय होकर रंगमंच से नहीं जुड़ पाए थे। यह कमी इलाहाबाद आकर पूरी हुई।

लक्ष्मीनारायण लाल जब घर से भागकर इलाहाबाद आए तो उन्हें एक व्यापक परिवेश मिला। विश्वविद्यालय में डा० रामकुमार वर्मा अध्यापक थे और गंभीरता से नाट्य लेखन तथा रंगमंच से जुड़े हुए थे। डा० लाल उनके निकट आए। उन्हीं दिनों इलाहाबाद में 'परिमल गोष्ठी' भी काफी सक्रिय थी। इसके सदस्यों में धर्मवीर भारती, रघुवंश, गोपीकृष्ण गोपेश, विजय देवनारायण साही, केशवचंद्र वर्मा, जगदीश गुप्त वगैरह युवा साहित्यकार थे। 'परिमल' की ओर से भी नाटकों का मंचन होता था जिसमें उसके सभी सदस्य सक्रिय भाग लेते थे। म्योर होस्टल में डा० रामकुमार वर्मा

के नाटक खेले जाते थे।

1950 में 'परिमल' ने 'उसने कहा था' (गुलेरी जी की प्रसिद्ध कहानी का नाट्य रूपांतर) का मंचन किया। इसमें लाल सहायक निर्देशक थे। उन दिनों लाल नाट्य लेखन में प्रवृत्त हो गए थे। विश्वविद्यालय पत्रिका के छात्र संपादकों में भी उनका नाम था। उन्हीं दिनों उन्होंने अपना पहला एकांकी 'ताजमहल के आंसू' लिखा। इस एकांकी पर डा० रामकुमार वर्मा का गहरा प्रभाव है। एक प्रकार से कहा जाए तो 1950-51 में लिखे लाल की इन प्रारंभिक एकांकियों में—जो छः एकांकियों के संग्रह 'ताजमहल के आंसू' में संकलित हैं—डा० रामकुमार वर्मा के नाटकों की अनुकरण परकता बहुत साफ दिखाई देती है। इन एकांकियों में कहीं भी लाल की मौलिकता उजागर नहीं होती।

'ताजमहल के आंसू' को पढ़कर डा० रामकुमार खुश हुए थे और लाल की लेखकीय प्रतिभा के प्रति आश्वस्त भी। यह नाटक विश्वविद्यालय के रंगकर्मियों द्वारा डा० लाल के निर्देशन में खेला भी गया था। इस अवसर पर कुछ विशिष्ट दर्शक भी उपस्थित थे और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डा० अमरनाथ झा, जो मुख्य अतिथि थे, इसके प्रस्तुतीकरण से प्रभावित हुए थे। यों नाट्य गुण की दृष्टि से यह नाटक किसी प्रकार भी न तो मौलिक था और न ही किसी गंभीर नाट्य प्रतिभा का संकेत ही देता था।

नाटककार लाल के लिए यह परीक्षण का समय था। बहादुरपुर की रामलीला चक्रवर्ती महाशय के माध्यम से प्राप्त बंगला नाटकों और बंगला संस्कृति के परिचय के साथ समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच के इस अनुभव को लाल चेतना के स्तर पर कहीं कोई संगति नहीं दे पाए थे। लोक नाटकों का व्यापक, विस्तृत और दर्शक की साझेदारी वाला रंगमंच एक तरफ था। बंगला नाटकों का पाठकीय ज्ञान दूसरी तरफ था और इलाहाबाद के पाश्चात्य उपादानों से बोझिल मध्यवर्गीय शौकीन रंगमंच का एक शहरी रूप तीसरी ओर था। इन तीनों के बीच लाल अपना रंगमंच खोज रहे थे।

उनके दिमाग में रंगकर्म को लेकर, रंगमंच को लेकर, रूप विधान और सज्जा को लेकर, संगीत और आलोक को लेकर कई तरह के सवाल उठ रहे थे। इस दौरान पश्चिम की रंगदृष्टि का भी उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। रामकुमार वर्मा और उनके साथ के दूसरे नाटककार पश्चिम और पूर्व के रंगमंच और रंग-दृष्टि का समन्वय करने की कोशिश कर रहे थे।

पुराने नाटककार पश्चिम और पूर्व की नाट्य कला का समन्वय इसलिए कर रहे थे कि यह समन्वय उन्हें विरासत से मिला था। भारतेंदु से लेकर रामकुमार वर्मा तक (एक सीमा तक प्रसाद और भुवनेश्वर को छोड़कर) कहीं भी भारतीय नाटक और भारतीय रंगमंच की तलाश नहीं थी। पश्चिमी नाट्य कला से अभिभूत नाटककार और रंगकर्मी सैक्सपीरियन थियेटर की भोंडी नकल कर रहे थे। यह प्रभाव उन्हें

सीधे नहीं प्राप्त हुआ था। इसका माध्यम बंगला का आधुनिक रंगमंच और भारत की एंग्लो-इंडियन जमात के द्वारा खेले गए अंग्रेजी ढंग के प्रदर्शन थे।

लाल को यह सब अजीब लगता था। लीला नाटकों में गहरे बसा हुआ उनका मन शहरी रंगमंचों के बनावटीपन, तामझाम और नकली माहौल को पचा नहीं पा रहा था। म्योर हॉल में प्रदर्शित नाटकों का मंचन देखते हुए और उनमें हिस्सा लेते हुए उनके मन में कई तरह के सवाल उठते थे :

—नाटक के लिए रात और रोशनी की क्या जरूरत है ? यह फ्लड लाइट क्यों ?

— डिब्बे की तरह बना हुआ बड़े कौशल से सजाया हुआ ऐसा रंगमंच क्यों ? क्यों नहीं कोई विस्तृत मैदान, कोई भी ऊंची जगह, कोई टीला, जिसकी पृष्ठभूमि में नदी हो, जंगल हो या कुछ भी हो, जो बनावटी न हो ?

—गहने, साज-सज्जा, कपड़े, रंग-रोगन की क्या जरूरत है ?

—क्यों नहीं, इन नाटकों में कहीं काव्य है ? क्यों छंद नहीं हैं ? क्यों कोई सिंबल नहीं है ?

—क्यों इन नाटकों का दर्शक इतना मूक, इतना निरीह और इतना अलग-थलग होता है ? क्यों वह इससे आंदोलित नहीं होता, इसमें हिस्सा नहीं लेता ?

—और फिर संगीत कहां है ? नृत्य कहां है ?

इन सारे सवालों के पीछे गांव का नाटक था—रामलीला, रासलीला और नौटंकी। आंतरिक तौर पर एक ओर लाल इन प्रश्नों से जूझ रहे थे, किंतु प्रगट रूप में वह शहरी रंगमंच के साथ जुड़ गए थे। अभिनय, निर्देशन और लेखन तीनों ही स्तरों पर। उन दिनों एकांकियों की धूम थी। उन्होंने भी प्रायः आधा दर्जन एकांकी एक खास भावुक और कच्ची शैली में लिख डाले।

1951 में उनके छः एकांकियों का संग्रह 'ताजमहल के आंसू' शीर्षक से निकला। यह उनके रचनात्मक प्रशिक्षण का दौर था। इस दौर में भी वे अपनी एक प्रेरणा के साथ दूसरी तथा ज्यादा गहरी प्रेरणा को तौल रहे थे। शहर का आधुनिक रंगमंच उन्हें घेरे हुए था, किंतु कहीं बहुत गहराई में आंदोलित नहीं कर पा रहा था। लक्ष्मीनारायण लाल जिस लोक नाट्य परंपरा और लोक जीवन से जुड़े थे उसकी प्रेरणा उन्हें धीरे-धीरे प्रश्नाकुल बना रही थी। इस बीच इनका एक और एकांकी संग्रह 'पर्वत के पीछे' और एक पूर्णांग नाटक 'अंधा कुआं' प्रकाशित हुए। चार-पांच वर्षों का यह रचनात्मक काल डा० लाल के लिए बेहद अनुर्वर था। इस बीच उनका असंतोष बढ़ता गया।

इसी असंतोष और प्रश्नाकुलता का उत्तर उन्होंने 'नाट्य केंद्र' में खोजा। इलाहाबाद के कुछ युवा रंगकर्मियों को उन्होंने एक मंच पर एकत्रित किया। इस संस्था का आरंभ 1956 में हुआ और लाल जब तक इलाहाबाद रहे यह संस्था लगातार सक्रिय रही। 1964 तक इस संस्था के माध्यम से लाल ने रंगमंच और नाटक

संबंधी कई तरह के प्रयोग किए। इस संस्था का रूप परंपरागत नाट्य संस्थाओं की तरह नहीं था। इसमें न केवल नाटकों का प्रस्तुतीकरण किया जाता था बल्कि रंगकर्मी और नाटककार विभिन्न नाट्यकला संबंधी विषयों पर लगातार चर्चा और बहसें किया करते थे। पश्चिम और पूर्व के नाट्य ग्रंथों का पठन-पाठन युवा रंगकर्मियों का प्रशिक्षण और नाटक तथा रंगमंच से संबंधित समस्याओं पर चर्चा-परिचर्चा के साथ नए प्रयोगों और नई समस्याओं पर विचार-विमर्श होता था। इस संस्था की समस्त सक्रियताओं के केंद्र में डा० लाल थे।

यह वह समय था जब लक्ष्मीनारायण लाल के नाट्य जीवन में एक नया मोड़ आया था। समन्वय की भावना को उन्होंने रिजेक्ट कर दिया था और प्रयोग पर उतर आए थे। लाल के शब्दों में कहें कि वे अपने खिलाफ खड़े हो रहे थे। इसी प्रयोगधर्मिता की उपज है उनका नाटक 'मादा कैक्टस' (1953)। इस नाटक में उन्होंने कुछ नए प्रयोग किए थे। पहली दफा हिंदी के एक नाटक में एक पात्र प्रेक्षकों को संबोधित करता है। इस नाटक की भाषा लाल के पिछले एकांकियों तथा नाटक से एकदम अलग है। इसी नाटक में पहली बार लाल ने सिंबल का प्रयोग किया है। वह सिंबल था 'कैक्टस'। पहली बार लाल ने समकालीन नाटक और रंगमंच में व्याप्त तथ्य-परकता और भोंडे यथार्थवाद का विरोध किया और नाटक में विद्रूप तथा 'एब्सर्ड' को जारी किया।

इसी नाटक में पहली बार डा० लाल ने कथोपकथन शैली को नकार कर सवाल-जवाबनुमा बातचीत के स्थान पर नाटकीय संवाद की प्रतिष्ठा की।

पुरानी शैली के नाटकों में ये सारे तत्त्व नहीं थे। न विद्रूप था, न एब्सर्ड तत्त्व, न ठोस जीवित भाषा और न संवाद, न ही प्रेक्षक की हिस्सेदारी। नाटक जैसे आसपास की दुनिया के बाहर रचा गया उसी दुनिया का एक भोंडा अनुकरण मात्र था। प्रेक्षक उसे केवल मनोरंजन के लिए देखता था, उससे विच्छिन्न रहता था। डा० लाल ने 'मादा कैक्टस' में पहली बार रंगमंच और यथार्थ, कला की दुनिया और वास्तविक दुनिया, प्रेक्षक और अभिनेता, नाटककार और नाटक, कला और विचार की दूरी को कम करने की कोशिश की।

मगर एक दूसरे स्तर पर डा० लाल अभी भी आश्वस्त नहीं थे। उनकी परवर्ती रचनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि वे नाटक और व्यवसाय, परंपरा और प्रयोग, मौलिकता और नवीनता की समस्याओं को भी रचनात्मक प्रयोगों के माध्यम से सुलझाने की कोशिश कर रहे थे। 'सुंदर रस' (1955), 'रात रानी' (1956), 'दर्पन' (1957), और 'रक्तकमल' (1960) इसी दौर में लिखे गए। यह 1956 से 1964 तक का दौर था। इसी दौर में उन्होंने अन्य प्रगतिशील रंगमंचों से गहरा परिचय प्राप्त करने की कोशिश की। उन्होंने कलकत्ता और बंबई का दौरा किया। कलकत्ते में उन्होंने खूब नाटक देखे। नए रंगमंचीय प्रयोगों और बंगला नाट्य जगत के कृती रंगकर्मियों से घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। युवा नाटककार तथा रंगकर्मी शंभुमित्र की 'बहुरूपी'

नाट्य संस्था द्वारा प्रस्तुत नाटकों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। शंभुमित्र उन दिनों बंगला रंगजगत में डा० लाल की तरह ही नया प्रयोग कर रहे थे और बंगला रंगमंच के आधुनिक स्वरूप की तलाश कर रहे थे।

इस काल के ऊपर बताए गए नाटकों में बंगला रंगमंच और नाट्यकला के प्रभाव साफ दिखाई देते हैं। इस काल में लिखे नाटकों के नारी-पात्र तथा उन नाटकों में व्यक्त नाटकीय अंतर्विरोधों तथा वातावरण का एक सीमा तक बंगला के तत्कालीन नाटकों से मिलान किया जा सकता है। बंबई में मराठी नाटकों से डा० लाल ने इसी क्रम में गहरा परिचय प्राप्त किया। मराठी नाट्य जगत और रंगमंच उन दिनों बहुत कुछ नया नहीं दे पा रहे थे मगर इन्होंने जिस सीमा तक लोक नाट्य को आत्मसात किया था, संगीत और नृत्य को जिस तरह उन्होंने रंगमंच का वाहन बनाया था उससे लाल प्रभावित अवश्य हुए। यह सारी तैयारी नाटककार लाल को एक नई दिशा की ओर ले जा रही थी।

1966 में अपने दिल्ली प्रवास काल में लाल ने 'संवाद' नामक नाट्य संस्था की स्थापना की। यह संस्था 1970 तक सक्रिय रही। इस दौरान लाल के सबसे महत्त्वपूर्ण नाटक लिखे गए। 'मिस्टर अभिमन्यु,' 'कलंकी,' 'अब्दुला दीवाना,' (1973), 'कर्फ्यू,' (1971) और 'सूर्यमुख' (1965), इसकाल की प्रमुख रचनाएं थीं। 'संवाद' के माध्यम से तथा दिल्ली की दूसरी शौकिया नाट्य संस्थाओं के माध्यम से ये नाटक लगातार खेले जाते रहे।

इसके बाद से आज तक का समय नाटककार लाल के नाट्य जीवन का तीसरा दौर है। उनके अनुसार यह उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण रचनात्मक दौर है। इस दौर में 'व्यक्तिगत' (1974) और 'एक सांझ हरिश्चंद्र' (1975) जैसे प्रायोगिक नाटकों के साथ 'संस्कार ध्वज' (1976), 'मगुन पंछी' (नाटक तोता-मैना का रूपांतरित संस्करण), 'नरसिंह कथा' (1976) और 'गुरु' शीर्षक नाटक लिखे गए। लाल के अनुसार ये उनके लीला नाटक हैं।

इस तीसरे दौर में नाटककार लाल ने अपना एक निजी रचनात्मक कौशल गढ़ लिया है। भारतीय नाटक और रंगमंच की तलाश जारी है, किंतु इस तीसरे दौर तक आते-आते लाल ने रंगमंच, रंगकर्म और नाटक के बारे में अपने अनुभव के आधार पर कुछ सुनिश्चित धारणाएं बना ली हैं। उन्होंने नाट्यरचना का अपना एक धरातल खोज लिया है। रचनात्मक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण करने का काल समाप्त हो चुका है।

इस तीसरे दौर के नाटकों का अध्ययन करने से बहुत स्पष्ट दीख पड़ता है कि लाल ने अपने लिए रंग शिल्प के कुछ प्रभावी नए उपादान ढूंढ़ लिए हैं। इन उपादानों का वे पर्याप्त कौशल के साथ प्रयोग भी कर रहे हैं। उनके प्रेरणा के आज के ये स्रोत आधुनिक जीवन-दर्शन और आधुनिक भारतीय जीवन तथा राजनीति में निहित है।

लाल ने पच्चीस वर्षों की इस लंबी तथा कठिन नाट्य यात्रा में नाट्यकला और रंग कर्म के कौन-से नए उपादान परंपरा तथा प्रयोग से निर्मित किए हैं। कौन-से नए औज़ार नाटक और रंगमंच को ज्यादा गहराई और व्यापकता तथा प्रभाव पैदा करने के लिए बनाए हैं इनकी चर्चा हम अलग करेंगे किंतु यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'ताजमहल के आंसू' से 'संस्कार ध्वज' तक की यह यात्रा उपलब्धि के रूप में तो महत्त्वपूर्ण है ही, सृजन के स्तर पर भी संपन्न तथा रोमांचकारी है।

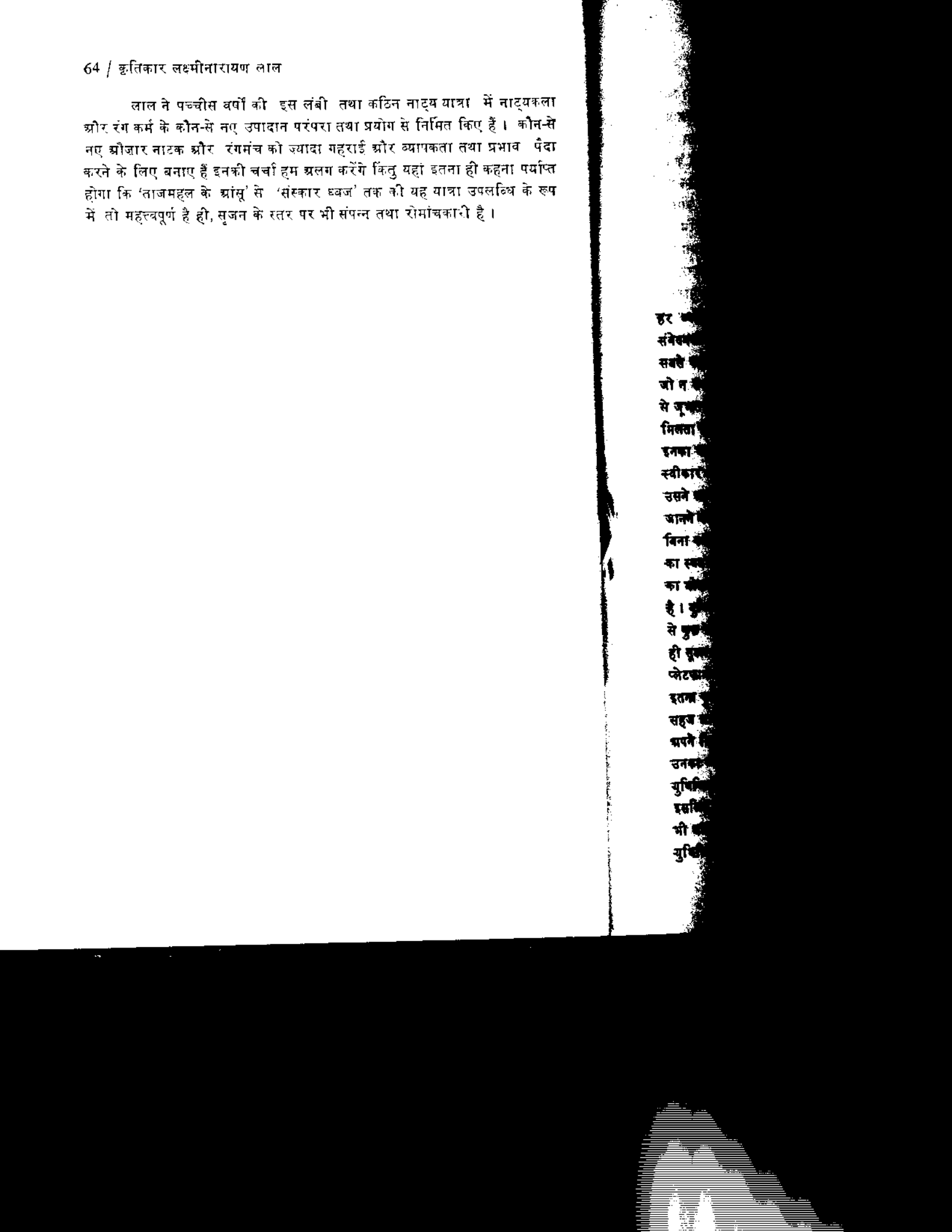

नाट्य यात्रा में नाट्यकला
निर्मित किए हैं। कौन-से
उपकता तथा प्रभाव पैदा
इतना ही कहना पर्याप्त
यह यात्रा उपलब्धि के रूप
पोषकारी है।

प्रश्न-यक्ष की अंतर्यात्रा

नर नारायण राय

हर व्यक्ति अपने वर्तमान के लिए उत्तरदायी होता है। साहित्यकार सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी होता है, प्रबुद्ध जीव होता है, इसलिए वर्तमान के प्रश्नों का उत्तर सबसे पहले उसे ही देना होता है। साधारण आदमी जो न तो प्रश्न कर पाता है और जो न उत्तर जानता होता है उसकी नियति निर्धारित होती है। साहित्यकार प्रश्नों से जूझता है, संघर्ष करता है, इसलिए उसकी पिपासा शांत होती है, उसे अमरत्व मिलता है। यह सारी बातें यदि केवल यक्ष और पांडवों के बीच हुई होती तब भी इनका महत्त्व कम नहीं होता; 'यक्ष प्रश्न' में अगर यह नाटककार का चिंतन है तो स्वीकार करना होगा कि आज के अहंकारग्रस्त व्यक्तिगत मानव-जीवन की नियति का उसने आम आदमी को साक्षात्कार करा दिया है। ऐसा हर दर्शक/पाठक जो यह जानने की कोशिश करेगा कि सहदेव, नकुल, अर्जुन, भीम सब समय का उत्तर दिए बिना क्यों और कैसे मर गए—वही समय का सही उत्तर होगा। 'जो अपने समय का स्वयं उत्तर नहीं देता उसके लिए वह समय काल हो जाता है'। हर काल खंड का भोक्ता व्यक्ति स्वयं होता है, इसलिए वह सदैव अपने अनुभवों को ही प्रमाण मानता है। युधिष्ठिर के सारे भाई इसीलिए मरे। एक ने दूसरे की मृत्यु से, दूसरे के अनुभव से कुछ सीखा नहीं। अपने इस कथ्य की दृश्यात्मक प्रस्तुति के लिए नाटककार ने बड़े ही सूक्ष्म संकेत लिए हैं। एक चौकोर प्लेटफार्म पर क्रमशः मृत हुए चार शव, प्लेटफार्म के चारों ओर कल्पित जल समूह, प्रश्नपुंज यक्ष का झिलमिल व्यक्तित्व, यही इतना कुछ दर्शकों के मन में प्रश्नों की सलाखें चुभाने के लिए काफी है। कोई भी सहज ज्ञान संपन्न व्यक्ति गंभीरता से विचार करने के लिए विवश हो उठेगा कि अपने मिथ्या अहंकारों में जीने वाला, अपने आप तक, अपने स्वार्थ तक सिमटा हुआ उनका व्यक्तित्व, काल के समक्ष कितना विवश, व्यर्थ और क्षुद्र है। उनसे बढ़कर वह युधिष्ठिर है जो स्वयं से अधिक दूसरे (सहदेव>प्रकृति>ब्रह्म) को महत्त्व देता है, इसलिए युधिष्ठिर की स्वयं की पिपासा तो शांत होती ही है, वे औरों की पिपासा भी शांत करते हैं, उन्हें नवजीवन देते हैं। यह 'कार्य' नाटक में होता है, अर्थात् युधिष्ठिर प्रश्नों से संघर्ष करने की अपनी शक्ति के कारण काल पर विजयी होते हैं

और इस प्रकार अपने सद्यः मृत चारों भाइयों को पुनर्जीवन प्रदान करते हैं। 'कार्य' की व्याख्या युधिष्ठिर ने की है 'अपने भीतर से बाहर आना'। यही 'कार्य' 'यक्ष प्रश्न' नाटक का भी है, वह भी अपने भीतर से बाहर आता है। युधिष्ठिर केवल अपने चारों भाइयों को ही नव जीवन नहीं देते—पाठकों और दर्शकों को भी समय के प्रश्न से जूझने का संघर्ष, उपहार देते हैं और इस प्रकार नव जीवन। जो भी व्यक्ति प्रश्न-हीन है—वह प्लेटफार्म पर पड़े शव की तरह है। जिनमें जिज्ञासा है वही कालजयी होकर जीते हैं। नाटककार एक बार अपने दर्शक की चिर सुषुप्त जिज्ञासा को झिंझोड़-कर जगा देता है और तब उसके सामने प्रश्न-यक्ष आ खड़ा होता है। यही 'यक्ष प्रश्न' का वह नाटकत्व है जो एक साथ दो स्तरों पर घटित होता है, नाटक के भीतर यक्ष और पांडवों के बीच, नाटक के बाहर नाटककार और दर्शकों के बीच। नाटक के भीतर घट रहे इस नाटक को बाहर लाना नाटककार के लिए जितना कठिन रहा होगा, उस नाटक को फिर अपने भीतर ले जाना दर्शकों के लिए उतना ही आसान हो जाता है। यह आसानी इसलिए पैदा हो सकी कि शिल्प के धरातल पर यहां जो कथ्य है वह दृश्य होकर पारदर्शी हो गया है, उसे अलग करना कि यह कथ्य है और यह दृश्य, दोनों के महत्त्व को घटा देना होगा। शिल्पगत प्रौढ़ि का यह उत्कर्ष है जहां दृश्य को कथ्य से विलगाया न जा सके। नाटककार नाटक के लिए बने रंगमंच को प्रत्येक दर्शक द्वारा अपना लिए जाने की आजादी दे देता है। रंगमंच पर मूर्त्त हुआ नाटक प्रबुद्ध दर्शकों के मन के मंच पर भी घटित होता जाता है।

भीम की मृत्यु के बाद यक्ष स्वयं चिंतित हो उठता है। उसकी चिंता है—ये इतने अज्ञानी क्यों हैं? दूसरों के अनुभवों से लाभ क्यों नहीं उठाते? अपने को ही सर्वज्ञ और प्रमाण क्यों मानते हैं? एक सत्य सामने मृत्यु के रूप में पड़ा है फिर भी ये अपने अहंकार को सत्य क्यों मानते हैं? क्यों अपने स्वार्थ में अंधे होकर यह देखकर भी नहीं देखते कि सामने भाई मरे पड़े हैं और स्वयं भी मृत्यु की ओर कदम बढ़ाते चले आते हैं? निश्चय ही यह उनका (भीम की तरह सभी अहंकारी मनुष्यों का) भ्रम है। जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में देखने से ही उनका यह भ्रम मिट जाता। लेकिन ऐसा होता नहीं—एक की मृत्यु को दूसरा अनुभव नहीं करता, एक दूसरा नहीं है, इसलिए एक का अहंकार दूसरे को काट देता है। यह चिंता नाटककार की भी उतनी ही है, केवल प्रश्न-यक्ष का आत्म-चिंतन ही नहीं। यक्ष के रूप में नाटककार का अपना व्यक्तित्व मुखर है। प्रमाण के लिए इन्हीं संदर्भों को दूसरे धरातल पर नाटककार की प्रस्तुति 'व्यक्तिगत' की चर्चा की जा सकती है। 'व्यक्तिगत' के माध्यम से नाटककार ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि आज व्यक्ति स्वयं यह समझ पाने में असमर्थ है कि अपने स्वार्थों से जुड़कर और अपने अहं का पोषण कर वह सामाजिक संकट बन गया है और अपने आपको पूर्णतः जी पाने में अक्षम हो गया है क्योंकि स्वार्थ (स्व-अर्थ) से जुड़कर वह समय के प्रश्नों का उत्तर खोज पाने में असमर्थ हो गया है। अहंकार के कारण उसकी दृष्टि इतनी मलिन हो गई है कि वह

समय से, यथार्थ से, साक्षात्कार नहीं कर पा रहा है। ऐसे व्यक्तियों का अंत निश्चित होता है, सहदेव, नकुल, भीम, अर्जुन की तरह और 'मैं' की तरह जिसे अपनी अंधेरी कोठरी की कैद भोगनी थी। लेकिन 'व्यक्तिगत' में व्यक्ति की मूढ़ता, स्वार्थपरता और अहंकार का भाव प्रधान है, प्रश्नों के तीखे दंश से उत्पन्न 'यक्ष प्रश्न' की वह सजगता नहीं। तुलनात्मक रूप से अपने इस स्थूल कथ्य की व्यंजना के लिए नाटककार ने 'मैं' और 'वह' जैसे चरित्र लिए हैं। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने 'मैं' और 'वह' को क्रमशः 'व्यक्ति' एवं 'समाज' का प्रतीक बनाकर प्रस्तुत किया है जो कथ्य की दृश्यात्मक प्रस्तुति के लिए सक्षम चरित्र सिद्ध होते हैं क्योंकि वे प्रतीक होकर भी वही हैं जो अपने स्वतंत्र अस्तित्व में। नाट्यानुभूति की सूक्ष्मता यहां भी उल्लेख्य है —'मैं' विकसित अहं, व्यक्तिगत स्वार्थलिप्सा का प्रतीक है और 'मैं' का इससे स्वतंत्र व्यक्तित्व भी नहीं। साधारणतया जिन्हें प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया जाता है उनका प्रतीकत्व के अलावा अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व-अस्तित्व भी होता है, प्रतीक के संदर्भ में वे पृथक अर्थ देते हैं। यहां स्थिति आश्चर्यजनक रूप से भिन्न है क्योंकि हम अपने भीतर के 'मैं' को साक्षात् और दृश्य रूप में समक्ष पाते हैं और यह 'मैं' इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, वह हर स्थिति में 'मैं' है। व्यक्ति के भीतर के 'मैं' को, अहम् को, यहां मंचीय-विधानों के द्वारा दृश्यत्व प्रदान कर मूर्त बना दिया गया है। कथ्य की अंतर्मुखता को बहिर्मुख बनाकर, मंचीय चरित्रों के कार्य व्यापार के माध्यम से साक्षीकृत किया गया है। यही वह बिंदु है जहां नाटक अपनी बहिर्मुखता के कारण साहित्य की अन्य सृजनात्मक विधा से पृथक जा खड़ा होता है। 'व्यक्तिगत' के भीतर हम सभी व्यक्तियों के 'व्यक्तिगत' चरित्र को बेनकाब पाते हैं, हमारा जो भी व्यक्तिगत है वह केवल हमारे भीतर की बात न रहकर मंचीय साध्य से, दृश्यत्व से, सबका सत्य बन जाता है। यहां कोई तर्क नहीं है, केवल एक कठोर सत्य की अनुभूति है; सत्य तर्क नहीं होता। हमारे भीतर का वह 'अहम्' जो अपने विभिन्न नाटकीय व्यवहारों से समय को अपने अनुकूल ढालने की कोशिश करता है, समय से जूझता नहीं, संघर्ष से बचना फिरता है, और इस प्रकार अपने निश्चित अंत को प्राप्त करता है। यहां भी नाटक के भीतर एक नाटक घटता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के धरातल पर सभी समय हो रहा होता है। नाटककार यहां केवल उन सभी 'नाटकों' को एक रंगमंच देकर विरत हो जाता है। 'यक्ष प्रश्न' का प्रश्न-यक्ष नाटककार यहां भी मौजूद मिलता है जो अपने मौन प्रश्न, पिपासुओं के समक्ष उछाल भर देता है। चुनौती स्वीकार करने वाला निश्चय ही 'व्यक्तिगत' से ऊपर उठकर 'दूसरे' की बात सोचेगा, युधिष्ठिर की तरह सहदेव की बात, नाटककार की तरह सबकी बात।

यक्ष के एक और प्रश्न से हम एक कदम और आगे चलते हैं। यक्ष ने पूछा, 'समय क्या है ? और यक्ष ने स्वयं उत्तर दिया, समय जल का सतत् प्रवाह है। जल के तल पर सतत् तैरते प्रश्न देश-काल की सीमा लांघ जाते हैं। 1973 में यक्ष के समक्ष प्रश्न कुछ और थे, उसके पूर्व के प्रश्न कुछ और। '73 के पूर्व का वर्तमान था

'समूचे जीवन-वृत्त का राजनीति के चारों ओर असहाय-सा घूमना' और '73 का वर्तमान था शासन का चारण बनने से इंकार करता हुआ एक प्रबुद्ध, संवेदनशील साहित्यकार। संवेदनशील था इसलिए उसकी प्यास में तीव्रता थी, प्रबुद्ध था इसलिए गंभीरता। जीवन के सभी क्षेत्रों में हो रहे मूल्यों के विघटन का प्रश्न उसे सर्वाधिक गंभीर प्रतीत हुआ। उसने प्रतीक्षा नहीं की कि कोई और समय के इस प्रश्न से क्यों नहीं जूझता, समाधान ढूंढने के लिए संघर्ष क्यों नहीं करता? इसलिए 'अब्दुल्ला दीवाना' में नाटककार ने 'समस्या नहीं उठाई है, सीधे प्रश्न से ही जूझे हैं'। जूझना नाटककार की विवशता थी। उसके समक्ष ऐसा समाज था जिसमें सोचने की क्षमता नहीं थी, जिनमें थी वे अहंकारग्रस्त थे। 'अब्दुल्ला दीवाना' का महत्त्व इसी अहंकार और जड़ता को तोड़ने की शक्ति में है। अब्दुल्ला के रूप में हमारे जीवन-मूल्यों की हत्या कर दी गई है और हत्यारा नया उच्चवर्ग पनप रहा है। मुट्ठी-भर शोषकों ने देश की तमाम जनता की आत्मा को भुलावों और अपनी धर्मपरायणता के ढोंग से ठगा है। नाटक का पात्र 'पुरुष' नैतिक मूल्यों की हत्या में समान रूप से भागीदार पर वह एक पहुंचे हुए महात्मा का स्वांग रचता है। चूंकि ये समस्याएं किसी एक व्यक्ति की समस्याएं नहीं थीं, यह पूरे जन-जीवन का संकट था, इसलिए यहां व्यक्ति चरित्रों की अवतारणा उपयुक्त नहीं होती। फलतः नाटक के सभी पात्र वर्गगत प्रतीक बन उठे हैं, उच्चवर्गीय तथाकथित इन नवोदित अभिजात्यवर्गी शोषकों को बेनकाब करने के लिए उन्हें धर्मपरायणता, कुलीनता और नैतिकता का नाटक करता हुआ दिखाना ही शायद अधिक व्यंजक होता। इसलिए यहां भी नाटक के भीतर एक और नाटक जन्म लेता है। एक नाटक नाटककार का है जहां वह प्रश्नों से जूझता है। दूसरा नाटक नाटक के भीतर नाटक के चरित्र करते हैं जहां वे अपने तमाम तरह के दोषों को धर्म और उन्मुक्त मानसिकता के अभिनय द्वारा छिपाने की कोशिश करते हैं। इसलिए नाटक का हर चरित्र अपने आपमें एक द्वंद्व है, स्वयं से संघर्षरत है। नाट्यानुभूति के इसी धरातल पर वे दर्शकों से संवाद' स्थापित करते हैं। यक्ष ने प्रश्न पूछा था 'संवाद' क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था—'समान होना'। लाल का यह नाटक दर्शक और मंच की दूरी को पाटता है क्योंकि नाटक के सभी पात्र आपस में केवल सतही तौर पर संबद्ध हैं, दरअसल, दर्शक से संबोधित। इसलिए इस नाटक को नाट्यगृह से बाहर सड़कों तक, आम लोगों तक, दर्शकों तक सीधा 'होता हुआ' लाया जा सकता है। यानी दर्शक और अभिनेता एक धरातल पर होंगे—उनका मंच एक होगा—दोनों समान होंगे, क्योंकि यहां दोनों में संवाद स्थापित होता है। नाटक का उद्देश्य कथा कहना नहीं होता, जीवन की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को 'होता हुआ दिखाना' होता है। इसलिए नाटक अगर जीवन के ज्वलंत प्रश्नों को महसूस नहीं कराता तो वह जीवन से संबद्ध कभी नहीं माना जाएगा और तब वह नाटक होगा भी क्या? नाटक यहां जीवन से वहां जुड़ता है जब आदर्शवाद, अध्यात्मवाद और कुलीनता का नाटक करते हुए समाज का एक समृद्ध वर्ग सामने आता है जो निर्भीक

भाव से समाज का शोषण और जीवन मूल्यों की हत्या करता है। चूंकि उन्हें राजनीतिक प्रश्रय प्राप्त होता है, इसलिए 'न्याय' एक नाटक-भर बनकर रह जाता है। समर्थ और संपन्न व्यक्ति न्याय को खरीद सकता है। ऐसी स्थिति में न्याय का नाटक देखने के लिए न्यायालय जाना उतना जरूरी नहीं रह जाता। उन्हें न्याय का नाटक करते हुए हम इस नाटक में भी देख सकते हैं। नाटक के भीतर से उसका नाटकत्व यहीं उभरकर सामने आता है। संविधान संशोधनों द्वारा अब न्यायपालिका पर संसद (बहुमत की सत्ता) की सत्ता स्थापित कर दी गई है। लेकिन प्रश्नों से जूझने वाले कालजयी नाटककार के समक्ष स्थिति आज से पांच वर्ष पूर्व भी उतनी ही स्पष्ट थी जब उसने घोषणा की थी कि—"सत्ताधारी सरकार धीरे-धीरे किन परोक्ष तरीकों से न्यायपालिका पर संसद और पार्टी के बहुमत से जोर डाल रही है, इसका आभास आम जनता को कम है पर आगे चलकर पूरा-पूरा हो जाएगा।" तब जो नाटककार का वर्तमान था क्या वही आज की वास्तविकता नहीं? यह प्रश्न-यक्ष का प्रश्न है और उत्तर? उत्तर है—'प्रश्न करना'।

प्रश्न-यक्ष का एक प्रश्न था 'व्यक्तिगत' में, जो व्यक्तिगत है वह समाज से टकराय। क्यों? एक प्रश्न था अब्दुल्ला दीवाना में—राजनीति से कैसी समाजनीति बनेगी? एक प्रश्न खड़ा होता है 'करफ्यू' में—व्यक्ति आजादी के नाम पर क्यों अपने आप पर करफ्यू लगाए रखने के लिए विवश है, वह अपने लिए स्वतंत्र जीवन मूल्य क्यों तलाश नहीं कर पाता? समय सत्य है। इसलिए समय का प्रत्येक प्रश्न अपने आपमें एक सापेक्ष उत्तर भी। जो बात 'व्यक्तिगत' में नाटककार ने 'मैं' और 'वह' के करफ्यूग्रस्त दांपत्य जीवन के द्वारा कहनी चाही है, वह बहुत पहले, बीज रूप में 'करफ्यू' में कही जा चुकी थी। एक ही नाटक में सारी बातें एक साथ कह पाना भी कठिन होता। नाटककार ने दरअसल एक ही नाटक लिखा, आज के किसी भी प्रबुद्ध, संवेदनशील व्यक्ति का प्रश्नों से जूझने का नाटक। अलबत्ता इसके संस्करण भिन्न-भिन्न और पृथक शीर्षकों में भले ही प्रस्तुत किए गए हों। 'करफ्यूग्रस्त' दंपति की कथा 'व्यक्तिगत', 'करफ्यू', 'सूर्यमुख', 'रातरानी' आदि कई नाटकों में प्रस्तुत की गई है पर जहां 'व्यक्तिगत' में नाटककार का इष्ट था विकसित अहम् के कारण उत्पन्न हुए प्रश्नों से साक्षात्कार वहां 'करफ्यू' में उसका इष्ट था अहम् की इस कारा को तोड़कर स्वतंत्र जीवन मूल्य को तलाशने की चुनौती। 'सूर्यमुख' में यह करफ्यूग्रस्तता बेतुरती और प्रद्युम्न के आत्म साक्षात्कार से जुड़ी है तो 'रात रानी' में विवाह की अर्थवत्ता की खोज से। प्रबुद्ध व्यक्ति को प्रश्नों का दंश चुभेगा—क्यों कोई व्यक्ति सामाजिक वर्जनाओं को ओढ़े रखने के लिए विवश है? वह क्यों नहीं उन्मुक्त होकर अपने लिए स्वतंत्र जीवन मूल्य की तलाश कर सकता? 'अब्दुल्ला दीवाना' में प्रश्न राजनीति के धरातल पर उभरता है कि हम क्यों न्याय का नाटक बर्दाश्त कर रहे हैं? यहां प्रश्न सामाजिक धरातल पर उभरा है, नए जीवन संदर्भों में। 'संजय' एक अभिनेता है। कविता के साथ वह अपने नाटक का अभ्यास करता है। संजय और कविता अपने-अपने

स्तर पर आत्मनिर्वासन का दंड भोग रहे हैं और अपनी-अपनी परिस्थितियों से संतुष्टि का अभिनय किए जाते हैं। इस प्रकार वे नाटक के भीतर एक और नाटक करते हैं और पाते हैं कि पहली बार उन्होंने अपने आपको तब जाना जब उन्होंने 'दूसरे' को जानने की कोशिश की। यहां नाटक के भीतर पुनः एक और नाटक का जन्म होता है, संजय, कविता, गौतम और मनीषा का आत्म संतुष्टि का भाव प्रदर्शित करने का नाटक और पुनः इस नाटक के भीतर से एक और नाटक उभरता है जिसका अभ्यास गौतम और मनीषा करते हैं और दूसरी ओर संजय और कविता करते हैं। इन चारों चरित्रों में प्रश्न पहली बार तब जगता है जब उनके समक्ष 'दूसरा' आता है। प्रश्न; जो समय का उत्तर है, जो जीवन की अनिवार्यता है, जो स्वयं समय है, जो जीवन है, और जिसका उत्तर दिए बिना चारों पांडव (यहां करफ्यू के चारों पात्र) प्यासे ही मर गए। नाटक के चारों चरित्र तब तक आत्मनिर्वासित से, मृत से, जीते हैं जब तक उनमें प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। और जैसे ही वे प्रश्न को समझने लगते हैं—अपने आपको समझने लगते हैं—दूसरे को समझने लगते हैं—अपनी प्यास से दूसरे को जोड़कर देखने लगते हैं। और तब उनके नीरस, निर्जीव जीवन में पहली बार जीवन-रस का संचार होता है, पद्रंह वर्षों तक विवाहित जीवन का शव ढोते रहने के बाद पहली बार वे अपने विवाह की वर्षगांठ मनाते हैं क्योंकि उन्होंने पहली बार जीवन को जाना था, क्योंकि पहली बार उन्हें प्रश्न की चुभन महसूस हुई थी। नाटक, नाटक के भीतर चल रहे नाटक, नाटक के भीतर चल रहे नाटक में नाटक का अभ्यास —नाटकीयता की केवल परतें ही नहीं, उसमें भी कहीं गहरे एक ऐसी परिस्थिति का प्रभाव भी है जो दर्शकों के मस्तिष्क पर प्रश्नचिह्न अंकित कर उन्हें सजग बनाता है। व्यक्ति समाज से विरोध रखे बिना भी निजी जीवन मूल्यों के अन्वेषण में प्रवृत्त हो सकता है, आवश्यकता उसमें केवल वह प्यास जगाने की है, उसके अहंकार को उसी प्रकार नष्ट करने की है जिस प्रकार संजय का अहंकार नष्ट हुआ। तभी उसने प्रश्न को आत्मसात किया, तभी उसने पहली बार सीमा को जाना, बंधन को समझा। बंधन को जाने बिना मुक्ति की कल्पना भी व्यर्थ है। नाटककार दर्शकों को उनके बंधनों से, उनके ओढ़े हुए 'करफ्यू' से अवगत कराता है, सजग बनाता है ताकि अपने स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र जीवन मूल्यों की तलाश में अग्रसर हो। इस प्रकार 'करफ्यू' के भीतर का नाटक, उसके भीतर का नाटक, फिर उसके भीतर का नाटक—एक बार फिर से बाहर आ जाता है और इस प्रकार एक बार फिर नाटक का नाटकत्व, नाटक का दृश्यत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

शोषण की परंपरा बनाए रखने के लिए यथास्थिति को बनाए रखना भी आवश्यक होता है। सभी युगों में शोषण होता रहा है। सतयुग में शोषक इंद्र थे और शोषित हरिश्चंद्र। आधुनिक युग में शोषक 'देवधर' जैसे नेता हैं और शोषित 'लौका' जैसे लोग। कलियुग में कलंकी अवतार का शोषण का संदर्भ दिया गया है जहां जनता प्रश्नहीन बनकर शोषकों के हाथों समर्पित हो जाती है। प्रश्नाकुल-यक्ष-नाटककार यहां

उन प्रश्नहीन आम लोगों की लड़ाई लड़ता है जिसे यथास्थितिवादी शक्तियों ने सोचने-समझने लायक भी नहीं रख छोड़ा है। उन्हें छल, बल और कौशल से प्रश्नहीन बनाकर चलते-फिरते शव में परिणत कर दिया है। ठीक यहीं आकर यक्ष प्रश्न' का वह रूपक अपने गुणात्मक साम्य के कारण फिर उभर उठता है जहां यक्ष के समक्ष प्रश्नहीन पांडव खड़े दिखाई पड़ते हैं। अलबत्ता इस रूपक में शोषक नहीं दिखता पर सवाल प्रश्न-हीनता से यहां भी जुड़ा होता है। 'कलंकी' में शोषक शव-साधक तांत्रिक जैसा ही दीखता है जिसके सम्मोहन में फंसकर शव-समान सब उसके ही मंत्रों को उच्चरित करने के लिए विवश होते हैं। 'कलंकी' में शोषण का विरोध है पर मौन। कलंकी का यह मौन विद्रोह (हे रूप+तारा) 'एक सत्य हरिश्चंद्र' के लोका में आकर मुखर हो उठा है। 'कलंकी' और 'एक सत्य हरिश्चंद्र' दोनों ही नाटकों का कथ्य इसे दृश्य बनाना है कि यथास्थिति द्वारा आम आदमी का शोषण होता है। नाटककार समय के इस ज्वलंत प्रश्न से जूझते हुए ऐसे नाट्यशिल्प का अभियोजन करता है जो इन दोनों ही नाटकों को आम आदमी से जोड़ता है। यह दोनों ही नाटक दरअसल आम आदमी की तकलीफ के नाटक हैं। इसलिए नाट्यशिल्प का स्वरूप स्वतः ऐसा ढल गया है जो आम आदमी की समझ का शिल्प है और अपनी किसी विलक्षणता के कारण वह आम आदमी से कटा नजर नहीं आता। इन नाटकों का रंगमंच आम आदमी के रंगमंचीय संकेतों से स्वतः आविर्भूत रंगमंच है क्योंकि इन दोनों ही नाटकों के माध्यम से नाटककार उनके ही जीवन को अभिव्यक्ति देता है। आम आदमी इन्हें अपना नाटक कह सकता है क्योंकि शैली, शिल्प और कथ्य तीनों ही धरातल पर यह उन्हीं का नाटक है। दर्शक और मंच की दूरी लोक नाट्यों (आम आदमी के रंगमंच) में कभी रही नहीं, इसलिए 'कलंकी' और 'एक सत्य हरिश्चंद्र' का रंगमंच दर्शक और मंच की दूरी को एकदम पाट देता है। यहां भी दर्शक और मंच की खाई को पाटने की नाटककार की वही कोशिश दिखाई पड़ती है जो 'अबदुल्ला दीवाना' में मौजूद है। महानगरीय ऐश्वर्य एवं अभिजात्यपूर्ण चमक-दमक में रिक्त यह दोनों नाटक अपनी दृश्यता में आम आदमी की तरह ही सीधे-सादे नाटक हैं और उनकी उन समस्याओं से जुड़े हैं जिसे शोषण के विरुद्ध क्रांति का आह्वान करते हुए हर सामान्य-साधारण आदमी अनुभव करता है। सर्वप्रथम 'कलंकी' की अवतारणा होती है : एक वातावरण तैयार करने के निमित्त। यह वह स्थिति है जहां सामान्य नागरिक एक अज्ञात प्रश्न की अकुलाहट और व्याकुलता तो अनुभव करते हैं, जहां वे यह तो अनुभव करते हैं कि उन्हें मूर्ख बनाकर उनका शोषण किया जा रहा है, जहां प्रश्नों की दीप्ति को—ताप को अनुभव तो करते हैं—पर उनका यह समान अनुभव कोई रूप-आकार और स्पष्ट प्रश्न नहीं बन पाता। कलंकी के द्वारा सामान्य लोगों में नाटककार बस एक बेचैनी-सी भर देता है, जिसे वे अनुभव तो कर लेते हैं पर अभिव्यक्त नहीं कर पाते, राह नहीं मिलती। सामान्यतः प्रश्न प्रबुद्ध मस्तिष्क में ही उठता है, अतः साधारण जन को पहले प्रबुद्ध और चेतन बनाना ही अधिक उपयोगी होता। 'विस्फोट' तो 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में होना

था, जहां न कोई इंद्र होगा न विश्वामित्र, सभी अपने अनुभवों से जीने वाले और अपने प्रश्नों से जूझने वाले हरिश्चंद्र होंगे। समाज की शक्तिशाली बड़ी जाति और बड़े लोग जिन अभिक्षित, मूढ़, पिछड़े लोगों को ईश्वर, धर्म और पाप का भय दिखाकर प्रश्नहीन बना उन पर अपना शासन और शोषण बनाए रखना चाहते थे वे ही अब अपने अधिकारों के प्रति सतर्क हो उठे हैं और अपना भविष्य स्वयं गढ़ने के लिए तत्पर। प्रश्न-यक्ष की प्रताड़ना से व्याकुल हो उठा उनका मन अब प्रश्नों से जूझने के लिए कटिबद्ध हो उठा है। उनकी ओर से कभी 'हे रूप' लड़ा, कभी 'लौका' और कभी नाटककार और इस सब का नतीजा यह हुआ है कि सदियों से चली आती हुई यथास्थिति को बार-बार चुनौती झेलनी पड़ी है और अब प्रश्न-यक्ष के समक्ष वह खुद जवाबदेह हो उठा है। नाटक की प्रकृति और नाटक का कार्य है—जो भीतर है उसे बाहर लाना, मन की बातों को मंच देना। 'कलंकी' मनुष्य के आंतरिक यथार्थ को आदिम ढंग से उजागर करता है, दृश्य बनाकर अभिनीत करता है। यह आदिम आंतरिक यथार्थ है युग-युग से प्रत्येक शासक द्वारा यथास्थिति बनाए रखने का प्रयास और यही केंद्रीय भाव इस नाटक के बाहर-भीतर मौजूद है यानी रंगशिल्प और संप्रेषण माध्यम दोनों में। 'कलंकी' में कथा का कुतूहल नहीं है दृश्यत्व की जिज्ञासा है। हम यह क्या देख रहे हैं? क्यों देख रहे हैं? यह है इसका रंग धर्म।' झुठलाया नहीं जा सकता कि 'यक्ष प्रश्न' का 'प्रश्न यक्ष' यहां भी रूपांतर में मौजूद है। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' एक वर्ग की जातिगत अनुभूतियों की युग-युग से चले आ रहे सत्ता और जनता के संघर्ष की, उन्हीं के भोगे हुए यथार्थ की, अनुकृति है। इस स्तर पर यह डा० लाल का नाटक है। नाटक के भीतर होने वाला एक और नाटक है—सत्यनारायण की कथा कहने के लिए हरिश्चंद्र की नौटंकी जिसमें मूल नाटक का पात्र लौका हरिश्चंद्र, देवधर इंद्र, रंगा विश्वामित्र की भूमिका निभाता है। नौटंकी करने वाले नाटक के सभी पात्र अपनी भूमिकाओं के प्रति उतने ही सतर्क हैं लेकिन उस 'भ्रम' को पहली बार नौटंकी में तोड़ा जाता है जो नाट्यानुभूति का मूल आधार है। लौका हरिश्चंद्र का जीवन जीता है अवश्य पर वह परंपरा का अनुगामी नहीं होकर स्वर्ग का प्रलोभन ठुकरा देता है। दूसरी ओर इंद्र बनने वाले देवधर बाबू अपने नाटक का स्वयं शिकार होते हैं। यह सब कुछ वह है जो नाटक के पात्र करते हैं, नाटककार के चरित्र तो बस आम आदमी की तकलीफ का नाटक भर करते हैं। यहां आम आदमी की अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर होती है नाटक में भी, नाटक के भीतर के नाटक में भी। दर्शकों को प्रतीत होता है कि 'हमें हमारी ही कथा, हमारा ही 'कार्य,' नाट्य बनाकर दिखाया गया है। यही वह बिंदु है जहां से 'एक सत्य हरिश्चंद्र' का दृश्यत्व उभरता है और उभारने वाला अदृश्य सूत्रधार है, दृश्य रंगा और लौका।

भीषण नरसंहार और रक्तपात से जो कीच तैयार हुई उससे आजादी का 'रक्त कमल' फूटा। देवधर, इंद्र, अकुल क्षेम-तांत्रिक, मैं, पुरुष-डाइरेक्टर और रक्त-कमल के महावीरदास जैसे लोग जब समाज को नए-नए ढंग से शोषित और प्रश्नहीन बनाकर यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं तो अपने-अपने स्वार्थ और अहंकार को

पोषित करने की साजिश रचते हैं तो—कमल, सारंग और अमृता जैसे सचेतन लोगों के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते, क्योंकि वे अपने को समाज से पृथक मानते हैं, सबकी प्यास से अपने को जोड़कर नहीं देखते। कमल सबकी प्यास में अपने को जोड़कर देखता है और अपने नाटकों में लोगों को भी दिखाता है। कमल नाटक का पात्र भी है, नाटक का रचयिता-प्रस्तोता भी, वह वर्तमान का प्रश्न भी है और अपने समय का उत्तर भी। वह इसीलिए यह अनुभव करता है कि—"हमारे भीतर कहीं वह अदृश्य स्थान जरूर है जो हमसे रह-रहकर प्रश्न करता है।" उसकी मां जब उससे पूछती है कि सबका दुःख वह अपने सिर क्यों ले लेता है तो कमल उत्तर देता है कि—'सबके सुख में ही हमारा सुख है।" कमल के भीतर भी वही 'प्रश्न-यक्ष' मौजूद है जो लाल के सभी नाटकों को एकसूत्रता और संबद्धता देता है। कमल के भीतर का 'प्रश्न-यक्ष' ही उस समय का वर्तमान है, 'समय' जो अपने आपमें स्वयं एक प्रश्न है। 'रक्त कमल' का नाटककार और प्रश्न-यक्ष इस नाटक में देशव्यापी प्रांतीयता, जातीयता, और सांप्रदायिकता के चित्रण के माध्यम से तत्कालीन वर्तमान की मानसिकता, वैचारिक संकीर्णता को उभारना चाहता था, पूंजीपतियों के शोषण और शोषण के परिणामों से अग-जग को अवगत कराना चाहता था, उनमें भी प्रश्नों के स्फुलिंग जगा देना चाहता था। समय की सीमाओं के कारण तब यह बात सीधे कह देना शायद अधिक प्रभावशाली नहीं होता, इसलिए एक शिल्पगत प्रयोग का सहारा अधिक उपयोगी साबित हुआ है। शोषण का विरोध, राष्ट्रीय एकता की भावना तथा मानवतावाद का स्वर नाटक के मूल रूप से नहीं, नाटक के भीतर होने वाले नाटक से उभरता है, जब कमल नाटक के भीतर अपने नाटक के दो दृश्य प्रस्तुत करता है जिसमें क्रमशः शोषण, भ्रष्टाचार, संकीर्णताओं और देश की गरीबी पर नई मानवता की विजय दिखाई जाती है, एक नवीन संस्कृति के निर्माण हेतु बीज वपन किया जाता है जो एक नए वर्गहीन-वर्णहीन भारत को जन्म देगा। नाटकीयता यहां बड़े ही सूक्ष्म तंतुओं से बंधी है, नाटकत्व यहां नाटक के भीतर चल रहे नाटक से रूप ग्रहण करता है। जंजीरों में जकड़ी क्षत-विक्षत आजादी—व्यंग्य के रूप में, प्रकाश खोजती बेहाल-विक्षिप्त पराजित-शक्ति की प्रतीक रूपा-अमृता, आजादी को ठगनेवाले अहंकारी-दंभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, जहां नाटक के भीतर एक और त्रासदी का रूप उभारते हैं वहां नाटककार के स्थूल कथ्यों को व्यक्त, गंभीर और प्रतीक संकेतों से दृश्य-अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। अभिव्यक्ति की दृश्यात्मकता यहां चरितार्थ होती है।

गंभीरतापूर्वक जांचने के बाद भी लक्ष्मीनारायण लाल के लगभग सारे नाटक कहीं न कहीं किसी व्यक्तिगत स्वार्थ से जुड़े नजर आते हैं; उनके स्तर, धरातल और प्रस्तुति के संदर्भ भिन्न नाटकों में भले ही भिन्न हो गए हों। स्वार्थ-परमार्थ का यह संघर्ष ही वस्तुतः लाल के नाटकों की वह धुरी है, मूल चेतना है, जिसकी अभिव्यक्ति रूपाकारों और संदर्भों के वैविध्यों के बीच से होती है। 'व्यक्तिगत' में इस स्वार्थ को 'व्यक्ति-गत' विशेषता के रूप में देखा गया है और सामाजिकता के संदर्भ के धरातल पर उसकी व्यर्थता सिद्ध की गई है। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में स्वार्थ को 'व्यक्तिगत' के

अतिरिक्त जातिगत 'लिप्सा' के रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है जहां वह विभिन्न आडंबरों के सहारे शोषण से जुड़ता है और अंत में जहां व्यक्तिगत-जातिगत स्वार्थ की सामूहिक-चैतन्य के समक्ष पराजय होती है। 'कलंकी' में व्यक्तिगत स्वार्थ शासन और व्यवस्था के संदर्भ से आकार ग्रहण करता है। इसका लक्ष्य भी मनुष्य जाति की उस सनातन, चिरंतन अधिकार लिप्सा की तुष्टि की अदम्य लालसा को अनावृत करना है जो धर्म, पाप-पुण्य आदि के भय के द्वारा संपूर्ण जनता को प्रश्नहीन बनाकर जीवित शव के रूप में परिणत कर शोषण चक्र की यथास्थिति बनाए रखना चाहता है। लेकिन पाखंडों का विडंबन यहां भी होता है—हर युग में स्वार्थ और शोषण का सामाजिक और सामूहिक विरोध हुआ है। 'रक्त कमल' में यह स्वार्थ 'अर्थलिप्सा' (ऐश्वर्य-समृद्धि की लालसा) से जुड़कर धर्म, जाति, सांप्रदायिकता की विरूपताओं को उजागर करता है। स्वार्थ का विरोध यहां और गंभीरता से होता है क्योंकि विरोधी उसका 'अपना' होता है। 'रातरानी' का जयदेव एक ओर जहां पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा सरल-समर्पित-स्वजनों और सामान्य जनों के शोषण के मौन षड्यंत्र का प्रतीक पात्र है वहीं अपनी अर्थलिप्सा की वेदी पर पत्नी के समर्पण और कोमल भावनाओं की बलि चढ़ाकर ऐश्वर्य भोगने वाली एक अमानवीय-अर्थ-संवेदना का प्रतीक भी। जयदेव शोषक का एक पूर्ण रूप प्रस्तुत करता है—उसके लिए हर 'दूसरा व्यक्ति' शोषण का लक्ष्य होता है, इसलिए वह बूढ़े माली, प्रेस कर्मचारियों और पत्नी में फर्क नहीं कर पाता। वह केवल 'अर्थ पिशाच' ही नहीं है कुछ और भी जो दूसरे के व्यक्तित्व, अधिकार और भावनाओं की बलि स्वीकार करने में भी नहीं हिचकिचाता। शायद यही विशेषताएं उसे एक पूर्ण शोषक होने का गौरव दें। जयदेव की इस स्व-अर्थ-लिप्सा को स्वार्थ से जोड़कर देखा जाए या शोषण के संदर्भ में लेकिन अपने इस रूप में वह अकुलजेम, मैं, महावीरदास और 'सूर्यमुख' के कृष्ण से भिन्न नहीं ठहरता क्योंकि प्रद्युम्न के मन में कृष्ण के प्रति वही आक्रोश है जो एक शोषित का शोषक के प्रति होता है। उसकी दृष्टि में कृष्ण ने राजा के रूप में न केवल द्वारका की श्री, संपत्ति और समृद्धि पर अपना विराट रूप निर्मित किया था अपितु देश की सभी श्रेष्ठ सुंदरियों पर भी अधिकार कर रखा था। प्रद्युम्न की प्रेयसी 'वेनुरती' अगर कृष्ण की पत्नी थी तो इसी विडंबना के कारण। स्पष्ट है कि नाटककार का लक्ष्य कहीं न कहीं व्यक्ति-स्वार्थ को बदले हुए संदर्भ में आंकना रहा है, भले ही उसने बदले हुए संदर्भों को बदले हुए शीर्षक दे दिए हों। जीवन के एक बड़े भाग को जयदेव अपनी पत्नी के प्रति निष्ठा, समर्पण और सद्भाव का छल करता हुआ खर्च कर देता है। समर्पण तो वस्तुतः वह तब करता है जब उसकी लिप्सा उसे ही निगल जाने को होती है। उसकी पत्नी उसके प्रारब्ध का हविष्य बनकर उसकी रक्षा करती है जबकि पत्नी की रक्षा का वचन विवाह की वेदी पर जयदेव ने दिया था। कहीं गहरे 'जयदेव' और 'कुंतल' का ही किंचित् परिष्कृत-परिमार्जित रूप 'व्यक्तिगत' के 'मैं' और 'वह' में देखने को मिलता है। 'रातरानी' की नाटकीयता 'जयदेव' के चरित्र में मुखर हो उठती है जो पूरे नाटक में उन 'यथार्थों' का अभिनय भर

करता है जो उसके चरित्र के अंग नहीं। इस अर्थ में 'जयदेव' का 'अभिनय' करना सार्थक होता है और कहीं गहरे नाट्यानुभूति को जगाने में सक्षम। 'सूर्यमुख' यद्यपि कथा के धरातल पर सीधे व्यक्तिगत स्वार्थ से जुड़ा नहीं दीखता लेकिन 'प्रश्न-यक्ष' यहां भी मौजूद मिलता है, दुर्गपाल के रूप में—जो एक ओर तो समय के प्रश्न को उजागर करता है और दूसरी ओर कथ्य को भणिति देता है—"यहां आकर जो नया मोह और प्रश्न जगा उसके समाहार के लिए अब कृष्ण नहीं है। यह आपका सौभाग्य है। आज पहली बार आपको संशय से अकेले जूझने का अवसर मिला है।" अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर सदैव कृष्ण देते रहे। अर्जुन ने कभी प्रश्नों का हल स्वयं नहीं किया, इसलिए वे इस सत्य को कभी पहचान नहीं पाए कि निर्णय के क्षणों में मनुष्य अकेला होता है। हर व्यक्ति को अपनी लड़ाई खुद लड़नी पड़ती है, अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं तलाश करना होता है। इसलिए जब अर्जुन के समक्ष दूसरी बार फिर संशय खड़ा होता है तो उनकी गांडीव का तेज खो जाता है। महाभारत का बलशाली पराक्रमी अर्जुन दूसरी बार प्रश्न-यक्ष का उत्तर खोज नहीं पाता और अपने गांडीव, बल-विक्रम के साथ फिर मर जाता है। एक बार तो युधिष्ठिर ने अपने सत्य से वनवास में अर्जुन को जिला दिया था—यक्ष के प्रश्नों के उत्तर देकर अर्जुन की प्यास भी मिटा दी थी। लेकिन इससे भी अर्जुन को शिक्षा नहीं मिली—प्रकृति किसी को क्षमा नहीं करती। जो आग छूता है—वह जलता है। प्रश्नों से जूझना ही जीवन है और दूसरों के प्रश्नों से अपने को जोड़कर देखना—जीवन की सार्थकता। इसलिए यहां प्रद्युम्न की लड़ाई सार्थक है क्योंकि वह समय के ज्वलंत प्रश्नों से जूझता है—जूझता हुआ मृत्यु को प्राप्त करता है लेकिन तब अंतिम क्षणों में 'वेनुरती' उसके पास होती है। कृष्ण का जो स्वरूप व्यंजित होता है उसके आधार पर कृष्ण उस सामंती शोषण के प्रतीक बन जाते हैं जिसके कारण अकेले पुरुष कृष्ण को सोलह हजार रानियां रखने की शक्ति प्राप्त थी और एक पुरुष प्रद्युम्न अपनी एकमात्र प्रेयसी से वंचित रहने के लिए विवश। इसलिए यह केवल कृष्ण और प्रद्युम्न का विरोध नहीं था उससे भी कहीं गहरे समस्त सामंती-व्यवस्था द्वारा शोषण की उस परंपरा का विरोध था जिसके समक्ष व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं होता। जयदेव ने भी कुंतल के व्यक्तित्व की उपेक्षा की, महावीरदास ने भी कमल के व्यक्तित्व की अवहेलना की, 'मैं' ने 'वह' को अपनी इच्छा, रुचि और सुविधानुसार नचाया—सब कहीं यह व्यक्तित्व की उपेक्षा स्तर भेद से मौजूद है और उसके अगल-बगल ही कहीं वह प्रश्न-यक्ष भी, जिसकी मौन-प्रश्नवाचक दृष्टि हर पाठक/दर्शक की प्रतिक्रियाओं को पढ़ रही होती है।

हमने डा० लाल के चर्चित नौ नाटकों को अंतसूत्र में पिरोने की कोशिश की है जिसमें 'यक्ष-प्रश्न' के 'प्रश्न-यक्ष' ने राह दिखलाई। 'प्रश्न-यक्ष' यहां जीवन और यथार्थ से उपजने वाले ज्वलंत प्रश्नों का प्रतीक है। अन्य रचनात्मक विधाओं की तरह नाटक में जीवन और यथार्थ केवल लिखा, पढ़ा और कहा नहीं जाता—वह 'जिया' और 'भोगा' जाता है। इसलिए नाटककार अपने प्रत्येक नाटक में प्रश्नों से

जूझता है, चरित्रों में जीता है और भीतर के 'भोग' को बाहर का 'मुक्त' बनाता है। इस कोशिश में वह सहज ही उनसे जुड़ता है जिनकी बातें वह कहता है और उनसे भी जिनसे वह अपनी बातें कहना चाहता है। एक छोर पर जीवन के विभिन्न धरातल पर शोषण उस आम आदमी का जीवन है, जिसकी लड़ाई नाटककार कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष भाव से लड़ता है। दूसरे छोर पर वह आम आदमी—आम दर्शक हैं जिन्हें वह मोह से, सुषुप्ति से, अज्ञान से, भ्रम से जगाना चाहता है ताकि वह अपने अधिकारों के लिए सतर्क हो; अपनी लड़ाई के लिए तैयार हो सके। ऐसा करता हुआ वह स्वाभाविक रूप से परंपरा, रूढ़ि, मंचीय सीमाओं और दर्शक की रुचि-मनोवृत्ति एवं मानसिकता से संबद्ध हो जाता है। वह आम आदमी की बात को उन्हीं तक पहुंचाना चाहता है, इसलिए वह उनके ही संप्रेषण माध्यम स्वीकार करता है। कभी वह 'एक सत्य हरिश्चंद्र' की नौटंकी का आयोजन करता है तो कभी 'कलंकी अवतार' की बात। आम आदमी की समझ तक बात जा सके, इसलिए उसके पात्र लौका हैं, देवधर हैं, कनू है, अमुना है / समाज का एक दूसरा वर्ग भी है जिसकी अपनी समस्याएं हैं भले ही वह शोषक-वर्ग भी हो। नाटककार ने उनकी भी उपेक्षा नहीं की है। 'करफ्यू' में इन्हीं उच्चवर्गीय चरित्रों के माध्यम से बंधन से मुक्ति के मार्ग की तलाश की गई है और अपने लिए स्वतंत्र जीवन मूल्य तलाश करने की आजादी दी गई है। जीवन मूल्यों की हत्या करके पनपने वाले 'नए वर्ग' की आंतरिक विसंगति और उसके अंतर की व्याकुलता भी नाटककार के लिए उतनी ही संवेद्य है। कोई भी नाटककार अपने समय के रंगमंच को उभारकर ही दर्शक और जनजीवन से जुड़ सकता है -जहां उसकी सार्थकता है। जिस समय लाल नाट्य लेखन में प्रवृत्त हुए उनके समक्ष न तो रंगशालाओं की सुविधा थी और न उन्हें नाटक के दर्शक उपलब्ध थे। यही कारण था कि अपने अधिकांश नाटकों में नाटककार ने रंगशाला की दीवारों को ढाहने की कोशिश की है, उन्हें तोड़कर नाटकों को उन आम आदमी तक पहुंचाने की कोशिश की है जिनकी वह चीज है, जिनके लिए वह तैयार की गई है। इसलिए कलंकी से लेकर 'यक्ष-प्रश्न' तक की अपनी अंतर्यात्रा में हमने यह देखने की कोशिश की है कि प्रत्येक नाटक का अपना मंच बंध है और अधिकांश ऐसे नाटक रंगशाला की सीमा स्वीकार करने के लिए विवश नहीं हैं। कलंकी और एक सत्य हरिश्चंद्र के शिल्प के धरातल पर केवल इन दोनों नाटकों में लोकनाट्य की शैली की उपस्थिति सिद्ध करते हुए ही अगर रंगशाला की आजादी सिद्ध करने की कोशिश की जाए तो यह बेमानी होगी—यहीं 'अब्दुल्ला दीवाना' हमारी मदद करता है और रचयिता की उस अंतःप्रकृति की स्वीकृति देता है। काफी हद तक यही आजादी यक्ष-प्रश्न में भी ली गई है। सारे के सारे नाटक ऐसे हैं जिनको कहीं भी मंचित किया जा सकता है और उनके साथ रंगशाला, रंगशालाओं की सुविधाओं की अनिवार्यता जुड़ी हुई नहीं है। दूसरी ओर नाटककार के समक्ष दर्शकों की समस्या रही है। नाट्य-सर्जन के क्षेत्र में प्रवेश करते ही नाटककार इस विडंबना से अवगत हो गया था कि हिंदी रंगमंच को दर्शक नहीं हैं। इसलिए दर्शक

तैयार करने में लगे हुए अन्य नाटककारों का हाथ बंटाना लाभ के लिए भी लाजिम हो गया था। तब हिंदी नाटकों के जो दर्शक थे वे सिनेमा प्रेमी थे। उन्हें चलचित्र से रंगमंच की ओर मोड़ना था। यह उतना आसान काम भी नहीं था। इसके लिए जरूरी था दर्शकों की रुचि और आवश्यकता को पकड़ना। 'रातरानी' में नाटककार की यह पकड़ काफी गहरी हो उठी है—"स्वभावतः ये दर्शक न तो यथार्थवादी नाटक चाहते हैं न अभी प्रयोगात्मक रंगमंच। ये सब नाटक चाहते हैं। कैसा नाटक ? ऐसा नाटक जो एक ओर इनके जीवन दर्शन को उनके भीतर से वाणी दे सके; उन्हीं के मानस चित्र उन्हीं के रागरंग में जो उन्हें बांध सके और उन्हें रंगशाला में बैठने के लिए जो आकर्षित कर सके। क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर आज नाटककार को रंगशाला में पहले दर्शकों की जरूरत है।" लाल के लगभग सभी नाटक सामान्य मनुष्य के सामान्य जीवन से उद्भूत नाटक हैं, इसलिए दर्शकों को अपना नाटक ही मंच पर होता दीखता है। यह अपनत्व उन्हें मंच से गहरे बांधता है। यह बंधन दर्शक और मंच का है, नाटक और मंच का है। डा० लाल ने नाटक और मंच तथा दर्शक के बीच की खाई को कितना पाटा—इसका लेखा-जोखा पृथक विचारणीय वस्तु है, फिलहाल हमें इस बात से ही संतोष है कि उन्होंने हिंदी के रंगमंच को दर्शक दिए हैं।

हिंदी रंगमंच की कोई समृद्ध परंपरा नहीं रही। आधुनिक युग में रंगमंच के जीवन में तीन बार उत्थान रूप आया है और वर्तमान हिंदी रंगमंच अभी इसी तीसरे दौर से गुजर रहा है। परंपरा से इसे जो कुछ मिला वह पारसी रंगमंच का अवशेष भर था। हिंदी रंगमंच को परिनिष्ठित बनाने का प्रयास भारतेंदु एवं प्रसाद द्वारा किए गए। लेकिन इसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं हुआ। रंगमंच शतवार्षिकी समारोह के पश्चात् हिंदी रंगमंच के विकास में बढ़ोत्तरी हुई है। इस सक्रियता का सृजन करने में लक्ष्मीनारायण लाल की अपनी भूमिका रही है। रंगमंच से विभिन्न रूपों में जुड़ा हुआ उनका जीवन इसका प्रमाण है। नाटककार के रूप में रंगमंच की वर्तमान स्थिति को देखते हुए उन्हें अपने रंगमंच के लिए कुछ निर्णय लेने थे। उनके सामने कोई सुदृढ़ और पुष्ट परंपरा रही होती तब इतना विचार करना शायद उनके लिए आवश्यक नहीं भी होता। उन्हें तो एक परंपरा की शुरुआत करनी थी, इसलिए कुछ अधिक सोचना आवश्यक था। नाटककार लाल का रंगचिंतक वहां-वहां स्पष्ट हुआ है जहां-जहां उसने अपने नाटकों को अपने रंगमंच पर सजाने की कोशिश की है। विचारहीन, धर्मभीरु जनता के लिए कलंकी के संकेत और मंचबंध की चर्चा से प्रारंभ कर यक्ष-प्रश्न के रंगमंच तक की बात की जा सकती है। इस संपूर्ण कृति-कल्प में कहीं भी कुछ ऐसा नहीं है जिसे दर्शक सहज भाव से स्वायत्त नहीं कर सके। सारे संप्रेषण माध्यम संकेतों के अनुरूप ढले हुए चरित्र, भाषा और संवाद के धरातल पर नाटक को सामान्य जीवन से जोड़ते हुए हैं।

हर नाटककार का अपना एक रंगमंच होता है, जिसके लिए वह नाटकों का सृजन करता है। इस अर्थ में नाटककार की दृष्टि पूर्ण है क्योंकि वह मंच, कथ्य,

अभिनेता और दर्शक को एक साथ अपने में मौजूद मानकर रंगमंच की सार्थकता को व्यापकता प्रदान करते हैं। मंच पर जब दर्शकों को अपना यथार्थ संपूर्णता के साथ प्रस्तुत दिखता है तो वह नाटक और वह रंगमंच उसको अपना प्रतीत होता, वह नाटककार उसे अपना लगता है। जरूरी है कि ऐसी स्थिति में नाटककार उनकी ही बात करेगा, उनके ही यथार्थ को दृश्य बनाएगा जो उसके दर्शक हैं। दूसरी ओर उसके रंगमंच के जो दर्शक हैं वह वही आम आदमी है जिसके सुख-दुःख, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, संघर्ष और सुविधा, शोषण और मुक्ति की बात वह करता है। स्पष्ट है कि नाटककार का जो अपना है वह आत्मविस्तार से सबका हो जाता है, इसलिए उसका रंगमंच केवल उसका अपना नहीं वह उतना ही सबका होता है। खुद नाटककार लाल की राय में चूंकि "मानव ही मानव के लिए सबसे अधिक कौतुक का विषय रहा है। मेरा रंगमंच यहीं से शुरू होता है। मानव अपने और अपने परिवेश से निरंतर संघर्ष करता है—क्योंकि हर मनुष्य में कहीं न कहीं एक प्रेरक शक्ति होती है जो हमेशा क्रियाशील रखती है, और उसमें कहीं न कहीं एक आदर्श होता है—जो उसे मंत्र की तरह, सुंदरता की तरह बेधे रहता है—मेरे रंगमंच का इसी बिंदु से प्रारंभ होता है" (दूसरा दरवाजा—अपना रंगमंच)।

आत्म-साक्षात्क

प्रतिभासंपन्न नाटककार, कल्पना
और हिंदी रंगमंच को संपूर्णता
ने अत्यंत सीमित समय में एक
बहुसंख्यक नाटकों के विवेचन
का इतिहास लिखा जा सकता
भूमि में लिखे गए ऐतिहासिक
की यथार्थवादी दुखांतिकी पर
भूमियों, रंग-रूढ़ियों, अर्थ-
'व्यक्तिगत', 'एक सत्य ह
उन्होंने बीस महत्त्वपूर्ण नाट
मोहभंग', 'सगुन पंछी', '
लाल ने एक नवीन नाट्य
होता है) और उसके इर्द
बिलकुल अभूतपूर्व शिल्प
प्रवृत्तियों वाले मियकीय
के अत्याधुनिक जटिल
बहुस्तरीय विस्तार है
करना लगभग असंभव
उन्हें किन्हीं वर्गों में
रामचंद्र शुक्ल ने कहा
मिलती; पर जब म
भावना भी बंधती
और प्रकृति में भिन्न
है।" हम यहां विधि
अलग-अलग विश्ले

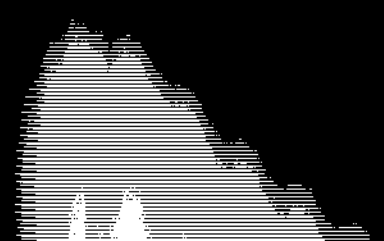

आत्म-साक्षात्कार करते चरित्रों का संसार

जयदेव तनेजा

प्रतिभासंपन्न नाटककार, कल्पनापूर्ण निर्देशक, कुशल अभिनेता, गंभीर नाट्य समीक्षक और हिंदी रंगमंच को संपूर्णतः समर्पित लक्ष्मीनारायण लाल के बहुआयामी व्यक्तित्व ने अत्यंत सीमित समय में एक बहुत लंबी रंग-यात्रा तय की है और इनके वैविध्यपूर्ण बहुसंख्यक नाटकों के विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से निस्संदेह आधुनिक हिंदी नाटक का इतिहास लिखा जा सकता है। 'ताजमहल के आंसू' नामक आत्मिक भावुकता की पार्श्व भूमि में लिखे गए ऐतिहासिक एकांकी अथवा 'अंधा कुआं' नामक ग्रामीण सामाजिकता की यथार्थवादी दुखांतिकी पर आधारित पूर्णकालिक नाटक से चलकर विविध भाव-भूमियों, रंग-रूढ़ियों, अर्थ-छायाओं, मौलिक व्याख्याओं और समृद्ध नाट्य-प्रयोगों वाले 'व्यक्तिगत', 'एक सत्य हरिश्चंद्र' अथवा 'यक्ष-प्रश्न' जैसे मौलिक लीला-नाटकों तक उन्होंने बीस महत्त्वपूर्ण नाटक हिंदी को प्रदान किए हैं। 'संस्कार-ध्वज', 'गुरु', 'सबरंग मोहभंग', 'सगुन पंछी', 'गंगा माटी' इत्यादि प्रकाशनाधीन हैं। अपने प्रत्येक नए नाटक में लाल ने एक नवीन नाट्य-बिंब तलाशा है (जो अनिवार्यतः उनके नाटक का शीर्षक भी होता है) और उसके इर्द-गिर्द बुनी गई कथा और उसे कहने-करने वाले चरित्रों को एक बिलकुल अभूतपूर्व शिल्प में बांधने का साहसिक प्रयास किया है। पुराण काल के आदिम प्रवृत्तियों वाले मिथकीय पात्रों तथा देशकालातीत शाश्वत प्रतीक-पात्रों से लेकर आज के अत्याधुनिक जटिल व्यक्ति-चरित्रों तक इनके नाटकों में चरित्रों का इतना बहुरंगी, बहुस्तरीय विस्तार है कि एक लेख की सीमाओं में बंधकर उन पर अलग-अलग विचार करना लगभग असंभव ही है। दूसरी ओर उनकी पारस्परिक विभिन्नता तथा विविधता उन्हें किन्हीं वर्गों में बांटने की छूट और सुविधा नहीं देती। फिर भी, जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है, "एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नहीं मिलती; पर जब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी बंधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अंतर्भूमियां हैं जहां पहुंचने पर अभिन्नता है।" हम यहां विभिन्न पात्रों के वैशिष्ट्यपूर्ण चारित्र्य और उनकी अद्वितीय निजता का अलग-अलग विश्लेषण न करके उन अंतर्भूमियों की तलाश का प्रयास करेंगे जहां पहुंच

कर भगौती और सूका; सुधीर, आनंदा और अरविंद; पंडितराज और देवियां, संन्यासी, वृद्ध और राजकुमारी; कमल, अमृता और महावीर; जयदेव और कुंतल; पूर्वी (दर्पन) और हरियदम; अवधूत, तांत्रिक, हेरूप और तारा; प्रद्युम्न और वेनुरती; मैना, तोता और नीलकंठ; मैं और वह; लोका (हरिश्चद्र), देवधर (इंद्र), जीतन (विश्वामित्र), राजन, आत्मन और विमल; संजय, कविता, गौतम और मनीषा; जज, पुरुष, डाइरेक्टर, युवक, युवती, चपरासी और अब्दुल्ला (अदृश्य पात्र); हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद; पद्मा (शैव्या); रोहित और रंगा; यक्ष और पांडव और द्रौपदी इत्यादि सबके साथ डा० लाल के (नाटकों के) पात्र बनते हैं।

किसी भी चरित्र की सृष्टि में नाटककार की मानसिकता और परिवेश के साथ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक-रंगमंचीय परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका रहती है। इस दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि नाटककार लाल की मानसिकता में दो प्रकार के संस्कार विद्यमान रहे हैं। जन्म और आरंभिक जीवन का संबंध गांव से रहा जिसने चेतन-अवचेतन में ग्रामीण-संस्कार दिए; उच्च-शिक्षा और व्यवसाय के लिए गांव छोड़ा तो शहरी संस्कार मिले। चेतन विचारात्मक स्तर पर शेक्सपियर, इब्सन, शॉ, चेखव, कामू, आयोनेस्को से होते हुए ब्रेख्त तक पहुंचे और बंगला के रवींद्रनाथ ठाकुर से भी प्रभावित हुए। व्यावहारिक रंगमंच से जुड़े और रंगमंच की व्यापक जानकारी पाने के लिए बुखारेस्ट और एथेंस भी गए। इस प्रकार लाल के नाटकों और उनके चरित्रों को हम स्थूलतः दो व्यापक धाराओं में बांट सकते हैं।

पिछले दिनों एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि, "मैं वास्तव में दो धरातलों का व्यक्ति भी हूं और लेखक भी। एक धरातल है : गांव के संस्कारों का, और दूसरा धरातल है शहर से अर्जित बौद्धिकता का। इसीलिए मेरे नाटकों में 'फॉर्म' भी दो तरह के हैं। एक है—'मादा कैक्टस', 'मि० अभिमन्यु', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'करफ्यू'—इसकी चरम सीमा है 'व्यक्तिगत'। दूसरी धारा है—'अंधा कुआं', 'रक्तकमल', 'कलंकी', 'सूर्यमुख', इत्यादि में।"[1] जहां तक परिस्थितियों का सवाल है लाल का नाट्य-लेखन भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के उस समय से आरंभ होता है जब सामान्य-जन एक प्रकार के मोह-भंग की स्थिति में था, मानव-मूल्यों का तेजी से विघटन हो रहा था और सामाजिक-वैचारिक स्तर पर परंपरा और आधुनिकता के बीच सामंजस्य की जोरदार कोशिशें चल रही थीं। अपने आपको पहचानना और उसे स्वीकारना ही उस युग की सबसे बड़ी चुनौती थी। नाटक मुख्यतः स्कूलों-कालेजों के वार्षिकोत्सवों तक सीमित था या रेडियो-प्रसारणों तक—जहां लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा और उपेंद्रनाथ अश्क पूरी तरह छाए हुए थे। रोमानियत या सतही यथार्थ का भ्रम

1. सार्थक : अंक : 4-5 : पृ० 14
(नाटककार लाल से संवाद : पूर्वाभ्यास से पटाक्षेप तक : जयदेव तनेजा)

उत्पन्न करने वाले तथाकथित समस्या प्रधान नाटक ही उस समय अधिक लोकप्रिय थे जो सरलीकृत स्थितियों, सपाट पात्रों, व्यंजनाहीन भाषा, अभिनयात्मक वृत्ति से रहित संवादों तथा ड्राइंग-रूम के बने-बनाए सरल दृश्य-बंधों के कारण बिना कल्पनाशील निर्देशकों और कुशल कलाकारों के भी प्रस्तुत किए जा सकते थे। दूसरी ओर पृथ्वी थ्येटर तथा इप्टा की ओर से अत्यधिक नाटकीयता, मुखरता और अतिरंजना में अप्रासंगिक आदर्श या तथ्यात्मक नंगा यथार्थ प्रस्तुत किया जा रहा था। प्रेमचंद की कहानियों-उपन्यासों के नाट्य-रूपांतरणों के माध्यम से सामाजिक समस्याओं के बहाने वामपंथी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए भी रंगमंच का इस्तेमाल बखूबी हो रहा था।

ऐसे समय में नाटककार के रूप में लक्ष्मीनारायण लाल का उदय—अन्य अनेक समकालीन भारतीय नाटककारों की तरह—तत्कालीन गंभीर और जटिल जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति तथा निजी रंगमंच की उपलब्धि के उद्देश्य से होता है। मोहन राकेश के प्रयोग और उनकी उपलब्धि मूलतः नाट्य-भाषा और स्त्री-पुरुष संबंधों के सूक्ष्म विश्लेषण को लेकर ही है—कथ्य की नवीनता या शिल्पगत प्रयोग वहां नहीं के बराबर हैं। धर्मवीर भारती में दृष्टिकोण की आधुनिकता, कथ्य की आक्रामकता तथा बौद्धिकता उल्लेखनीय है जबकि डा० लाल में कथ्य और शिल्प के अभूतपूर्व प्रयोगों द्वारा रंगमंच के सत्य को ढूंढने की उत्कट लालसा है। 'फॉर्म' को लेकर इतने रंग प्रयोग हिंदी तो क्या संभवतः अन्य किसी भी भारतीय भाषा के नाटककार ने नहीं किए होंगे। इस लंबी रंग-यात्रा में तीन दौर साफ तौर से देखे जा सकते हैं—पहले दौर में डा० लाल का नाटककार अपने ग्रामीण और शहरी संस्कारों के बीच बुरी तरह उलझा हुआ है। वह सही कथ्य और उसके उपयुक्त शिल्प को ढूंढने की छटपटाहट का दौर है। जो है—वह उसे स्वीकार्य नहीं है और जो होना चाहिए उसकी निर्भ्रांत और स्पष्ट जानकारी भी उसे नहीं है। पात्र काफी हद तक यथार्थवादी है और अपने यथार्थ से टकराकर भीतर का सत्य खोजते प्रतीत होते हैं। यहां नाटककार और उसके पात्रों में नए और आधुनिक के प्रति एक कुतूहल और अतिरिक्त-आरोपित आग्रह दिखाई पड़ता है। दूसरे दौर में नाटककार की बुद्धि उसके मूल संस्कारों पर हावी हो गई है और अन्य अनेक भारतीय नाटककारों की तरह वह स्त्री-पुरुष संबंधों को वैचारिक धरातल पर विश्लेषित करने का प्रयास करता है। ये दौर वास्तव में डा० लाल के लिए एक 'टेक ऑफ' की स्थिति है। इसके बाद के तीसरे दौर में नाटककार बुद्धि का अतिक्रमण करके जन-सामान्य के जीवंत-सत्य का साक्षात्कार करता और कराता है। यहां आकर लाल आग्रही आधुनिकता और आरोपित बौद्धिकता से मुक्त होकर सीधे अपनी धरती से जुड़ जाते हैं—अपना परंपरागत जीवंत नाट्यशास्त्र और अपना समृद्ध लोक रंग-धर्म उन्हें एक सच्चा भारतीय नाटककार बना देता है।

यद्यपि अपने आरंभिक दौर में डा० लाल ने यथार्थवादी नाटक भी लिखे हैं परंतु वहां भी अन्य नाटककारों से उनका एक अंतर बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है।

वह यह कि लाल ने कल्पनाविहीन, संकीर्ण और तथ्यात्मक यथार्थवादी रंगमंच को ज्यों का त्यों कभी स्वीकार नहीं किया। वह जीवन और नाटक में अंतर मानते हैं। नाटक जीवन के असंप्रेषणीय सत्य की मूर्त अभिव्यक्ति है। अतः वह जीवन के यथार्थपरक तथ्यात्मक चित्रण के स्थान पर जीवन-सत्य के सूक्ष्म-काव्यात्मक प्रस्तुतीकरण पर बल देते हैं। यही कारण है कि विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टि से देखने पर उनके लगभग सभी चरित्र किसी न किसी बिंदु पर पहुंचकर अविश्वसनीय, अतार्किक और असंगत प्रतीत होने लगते हैं। ये नाटककार की कमजोरी नहीं है बल्कि एक ऐसी युक्ति है जिससे वह चरित्र-विकास की कार्य-कारण वाली नीरंध्र परंपरा को तोड़कर रंगमंच के आंतरिक काव्य को पकड़ने की कोशिश करता है और इस प्रकार अपने रंगमंच को अधिक प्रशस्त, उदार और कल्पनापूर्ण बना देता है। संभवतः इसी कारण अपने आरंभिक नाटक 'मादा कैक्टस' में ही उन्होंने स्पष्टतः इस बात की घोषणा कर दी थी कि "नाटक कोई कहानी नहीं, उपन्यास नहीं, जो तर्क पर चढ़ाकर देखा जाए।" और उनकी यह मान्यता और इसकी घोषणा 'एक सत्य हरिश्चंद्र' तक ज्यों की त्यों विद्यमान है। तर्क सम्मत यथार्थ के इसी भ्रम को तोड़ने के लिए उन्होंने अपने लगभग सभी नाटकों में 'नाटक के के भीतर नाटक' की परंपरागत विशिष्ट रंग युक्ति का प्रयोग किया है। 'मादा कैक्टस' के आरंभ में सुधीर डगडगी बजाकर मजमा-सा लगाता है, 'रक्त कमल' में कमल, सारंग, कनू और अमृता 'ड्रामा' करते हैं; 'रातरानी' की सुन्दरम जयदेव के पिता की आत्मा बनकर योगी और प्रकाश को डराने के लिए नाटक करती है; 'दर्पन' में तो दर्पन पूरे नाटक में ही पूर्वी का अभिनय कर रही है; 'कलंकी' में जैतवन का रूपक है; 'अब्दुल्ला दीवाना' में मुकदमे का नाटक है; 'करफ्यू' में संजय और कविता का नाटक-पूर्वाभ्यास है; 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में प्रत्यक्ष नाटक के समांतर 'हरिश्चंद्र' का पौराणिक नाटक आद्यंत चलता है तो 'व्यक्तिगत' का पूरा फॉर्म ही 'नाटक में नाटक' जैसा ही है। यही कारण है कि डा० लाल इन्हें 'लीला-नाटक' कहना पसंद करते हैं। इस विधि से नाटककार यथार्थ का भ्रम तोड़कर नाटक को एक अनुष्ठान का-सा रूप प्रदान करता है, जिसमें सम्मोहित होकर दर्शक एक प्रकार की उन्मादावस्था में अपने निजी और गहरे सत्य का साक्षात्कार कर सके। वह दर्शक को एक निष्क्रिय प्रेक्षक के रूप से हटाकर इस नाट्य-यज्ञ का अभिन्न अंग और सहप्रयोक्ता बना देता है। इसके लिए संगीत, लोकगीत, मिथक, नृत्य, काव्य इत्यादि सभी का संगत उपयोग सहायक सिद्ध होता है। इसके लिए लाल के नाटकों का कोई न कोई पात्र सूत्रधार की तरह सीधे दर्शकों को संबोधित करता है अथवा बीच-बीच में कुछ विशिष्ट संवादों या गीतों का प्रयोग इस रूप में किया जाता है कि वे नाटक और दर्शकों के बीच एक भावनात्मक सेतु का निर्माण करते हैं जिससे दर्शक नाटक के मूल कार्य-व्यापार में स्वयं को सम्मिलित अनुभव कर सकें। इस प्रक्रिया के दौरान इन पात्रों के अभिनेता अपने-अपने चरित्रों से निरपेक्ष और तटस्थ हो-होकर 'एक्टर' से 'प्लेअर' की भूमिका में आ जाते हैं। सुधीर, पूर्वी, हेरूप, संजय, कविता, मैं, वह, लोका इत्यादि सभी चरित्र इसी अर्थ में 'प्लेअर' भी हैं।

नाटक के दौरान ये तमाम चरित्र केवल अपने आपसे साक्षात्कार करते ही नहीं अपितु उसे करके दिखाते भी हैं। चरित्रों द्वारा यह आत्म-साक्षात्कार करना और उसे दिखाना नाटककार लाल की चरित्र-सृष्टि का अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इनके नाटकों के दृश्यत्व का भी यह एक मूल आधार है। परंतु बावजूद अपनी तमाम सामर्थ्य, मौलिकता और प्रभविष्णुता के इस चरित्रांकन की एक बड़ी सीमा यह है कि इन रंग-धर्मिताओं को जिस यथार्थवादी नाट्य-शिल्प में नियोजित किया गया है, उससे इनका कोई आंतरिक संबंध नहीं बन पाता और चरित्र परस्पर विरोधी तत्त्वों के असामंजस्य के कारण कुछ-कुछ ऐसा आभास देते हैं जैसे कोई टाई-सूट-बूट वाला अत्याधुनिक व्यक्ति मंदिर में आरती की थाली लिए पूजा कर रहा हो। इसी बिंदु से लाल के चरित्रों की एक अन्य विशेषता जुड़ी है और वह यह कि इनमें अंतर्द्वंद्व या मनोवैज्ञानिक यथार्थता एवं विकास की झलक तो दिखाई देती है परंतु वह इनकी आत्मा में अनुस्यूत नहीं है। यहां राकेश और लाल की चरित्र-सृष्टि का अंतर स्पष्टतः प्रकट हो जाता है। राकेश के पात्रों की आत्मा है उनका अंतर्द्वंद्व जबकि लाल के पात्र प्रश्नाकुलता की धुरी पर घूमते हैं। राकेश के पात्रों की मानसिकता दो विकल्पों (?) के बीच चुनाव की समस्या से द्विधाविदीर्ण और अंतर्ग्रस्त है जबकि लाल के पात्र उस अंतर्द्वंद्व के मूल कारण और उसकी तलाश के प्रश्नों से आक्रांत हैं। मूलतः लाल के पात्रों के तीन सोपान हैं। जहां पात्र में एक आंतरिक शक्ति, गति और मनोवैज्ञानिक कुंठा है वहां वह 'चरित्र' है। गति देने वाली शक्ति को जानने की जिज्ञासा और प्रश्नाकुलता उसे 'व्यक्ति' बनाती है और उस प्रश्न के उत्तर से साक्षात्कार होते ही वह 'मनुष्य' बन जाता है। इस प्रकार चरित्र से मनुष्य तक की यह यात्रा लाल को व्यक्तिवादी से सामाजिक बनाती है। इसीलिए इनके यहां विशिष्ट चरित्र वाले पात्रों का प्रायः अभाव है। यहां समाज और मनुष्य अपनी समग्रता में विद्यमान हैं। कहीं-कहीं तो चरित्रों के विशिष्ट नाम तक नहीं हैं—वह समाज के मुख्य वर्गों के प्रतिनिधि मात्र हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटककार लाल की यह चरित्र-यात्रा वास्तव में पात्रों के संज्ञा से सर्वनाम बनने की लंबी यात्रा है।

लाल के अधिकांश नाटक और उनके चरित्र अतीत से संबद्ध हैं। मिथक, पुराण, इतिहास या कल्पनात्मक अतीत के चरित्रों की सृष्टि के मूल कारण को नाटककार 'भारतीय दर्शक' की प्रकृति से जोड़कर देखता है, लाल के अनुसार, "हमारे यहां का आदमी जोड़कर देखने का आदी है। किसी का परिचय पाने के लिए उसके बाप-दादा के नाम और गांव का पता पूछता है। उसे उसकी जड़ों से जोड़कर पहचानता है। वह अतीत के माध्यम से वर्तमान को समझता है। इसलिए जो जितना पीछे जाएगा उतना ही वर्तमान को जानेगा।...अतीत से जुड़कर हमारा वर्तमान अधिक अर्थवान हो उठता है—क्योंकि 'वर्तमान' एकायामी नहीं है।"[1] परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि

1. मायंक : अंक 4 5 : पृ० 15
(नाटककार लाल से संवाद : पूर्वाभ्यास से पटाक्षेप तक : जयदेव तनेजा)

वर्तमान के संकट को सही-सही देखने-परखने और पकड़ने की असमर्थता के कारण भी नाटककार अतीत में पलायन करता है तथा कभी-कभी अनेकायामिता के चक्कर में चरित्रों की समकालीन पहचान और ऐतिहासिक संगति के बीच पात्रों को कोई विश्वसनीय धरातल नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त, केवल लाल ही नहीं प्राय: सभी हिंदी नाटककारों के संदर्भ में एक सार्थक प्रश्न यह भी है कि क्या उनके चरित्र वास्तव में अतीत, वर्तमान और भविष्य से जुड़कर सचमुच 'अधिक अर्थवान' और अनेकायामी हो भी सके हैं? निस्संदेह अतीत भारतीय दर्शक के रक्त में है—संस्कार में है। वह अक्सर अपनी बात को अतीत के पात्र अथवा प्रसंग के माध्यम से कहना चाहता है—कहता है। परंतु प्रश्न यह भी है कि इस तथाकथित संस्कारी दर्शक का 'आज' कोई है भी या वह अतीत में जीवित व्यक्ति अतीत की बात अतीत के पात्रों से ही आज भी कह रहा है?

लाल की धारणा है कि यहां का दर्शक मूलत: एक 'रिलैक्स्ड' प्राणी है। तनाव और अंतर्द्वंद्व उसकी प्रकृति में नहीं हैं। इसीलिए लाल के चरित्र मूलत: मनोरंजक हैं—अपनी बात को बार-बार तरह-तरह से दोहरा-तिहराकर कहते हैं। वे दर्शक के स्तर पर उतरकर उससे संवाद के आकांक्षी हैं। संभवत: यही कारण है कि इनके नाटकों का कोई न कोई पात्र सूत्रधार बनकर मंच और दर्शक के व्यवधान को खत्म करने की कोशिश करता है।

लाल के चरित्रों का परिमाणात्मक और गुणात्मक स्वरूप-वैविध्य—आकर्षक और रोचक है। ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रतीकात्मक पात्रों में राजा से रंक और जज से चपरासी या भिखारी तक पात्रों का इंद्रधनुषी विस्तार यहां दिखाई देता है परंतु कहीं भी वे नायक, नायिका, खलनायक, विदूषक जैसे परंपरित रूप-रंग में बंधे नहीं हैं। वे सब पात्र मूलत: मनुष्य हैं और नाटककार ने उन्हें पूरी सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके संबंध-निरूपण में भी लेखक ने ऊर्ध्वाधर संबंधों के स्थान पर क्षैतिज संबंधों पर ही अधिक बल दिया है,[1] परिणामत: प्रत्येक नाटक में केंद्रीय पात्रों की निश्चित उपस्थिति के बावजूद नाटक के अंत में कोई एक विशिष्ट पात्र अलग से उभरकर नहीं आता, बल्कि उन सबके माध्यम से एक 'बात' उभरकर महत्त्व पा जाती है और नाटक अलग-अलग चित्रों से निर्मित एक कोलाज-चित्र का प्रभाव छोड़ता है। लाल के नाटकों में प्रश्न और फॉर्म का वैविध्य ही मूलत: चरित्रों को भिन्नता प्रदान करता है।

चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से लाल के नाटकों में हमें तीन स्तर दिखाई देते हैं। इनके प्रारंभिक नाटकों में घटना प्रधान है और चरित्र उसके कर्ता या सहायक हैं। दूसरे दौर में चरित्र ही मूल धुरी है जिस पर उनका संपूर्ण नाटक घूमता है और अपने वर्तमान तीसरे दौर में किसी 'बात', 'विचार' या 'व्याख्या' की खूंटी पर चरित्र लटके

---

1. देखिए : समसामयिक हिंदी नाटकों में चरित्र-सृष्टि : जयदेव तनेजा, पृ० 13

हुए हैं। इस दौर या स्तर के नाटकों में ही ऐसे चरित्र मिलते हैं जहां प्रायः ऐसा लगता है कि यहां पात्र के बजाए स्वयं नाटककार बोल रहा है। पिछले कुछ वर्षों से लाल का चिंतक इतना प्रखर और मुखर हो उठा है कि उनके पात्रों को दबोचने लगा है और उनके चरित्र रह-रहकर ऐसी सूक्तियां और सिद्धांत-वाक्य बोलने लगते हैं जिनका कोई सीधा संबंध उनके अपने जीवन-अनुभव से नहीं होता। 'सगुन पंछी' इसका प्रत्यक्ष और अद्यतन उदाहरण है। लाल अपने चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विकास पर भी विशेष ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि बड़े और लंबे नाटकों की अपेक्षा उनके छोटे नाटकों के चरित्र अधिक विश्वसनीय, स्वाभाविक और जीवंत प्रतीत होते हैं।

केवल 'एक सत्य हरिश्चंद्र' का जीतन ही नहीं बल्कि लाल का प्रत्येक चरित्र आत्म-साक्षात्कार की एक उलझी हुई लंबी यात्रा पर है, जहां जीवन के किसी-न-किसी बिंदु पर पहुंचकर उसे प्रतीत होता है कि, "जैसे-जैसे विश्वामित्र के चरित्र में बैठता जा रहा हूं, लगता है मैं अपने से आमने-सामने हो रहा हूं। मैं क्या हूं? लौका क्या है? आप क्या हैं? इसे देखने लगा हूं।" गहरी दार्शनिक प्रश्नाकुलता, छटपटाहट और आत्म-संघर्ष के बावजूद अंततः लक्ष्य पा लेने का एक अद्भुत आश्वस्ति-भाव इन चरित्रों का एक ऐसा गुण है जो इन्हें भारतीय स्वभाव और प्रकृति से जोड़ता है। इन नाटकों के अंत में ये चरित्र आत्म-साक्षात्कार की स्थिति तक पहुंच जाते हैं और अधिकतर इन्हें तमाम प्रश्नों के उत्तर तथा समस्याओं के समाधान भी मिल जाते हैं परंतु प्रश्न और उत्तर के बीच की लंबी तार्किक प्रक्रिया का यहां प्रायः अभाव है जिससे चरित्र प्रायः अविश्वसनीय और कृत्रिम लगने लगते हैं। मेरे विचार से यहां भी लाल का दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय है। हमारे यहां सत्य की उपलब्धि साधना के किसी एक क्षण में अनायास ही हो जाती थी जबकि आधुनिक वैज्ञानिक एक लंबी प्रयोग-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अंत में किसी निष्कर्ष पर पहुंचता है।

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने जान-बूझकर अपने पात्रों (और उनके संवादों) को चुस्त-दुरुस्त और सर्वांगपूर्ण ठोस चारित्र्य प्रदान नहीं किया है। इनके चरित्रों में एक 'खोल' है जिसमें अभिनेता उसमें घुसकर इन्हें जीवंत और संपूर्ण बनाता है। नाटक और चरित्रों का यह खोल ही निर्देशक-अभिनेता की कल्पनात्मक एवं सर्जनात्मक प्रतिभा को उद्वेलित करके उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है; जिससे कि नाट्य-चरित्रों तथा प्रेक्षकों के साथ-साथ वे भी आत्म-साक्षात्कार कर सकें। चरित्रों की यह सम्मोहक चुनौती ही देशव्यापी रंगकर्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करती रही है। इसलिए यह आकस्मिक नहीं है कि महानगरों से लेकर छोटे-छोटे शहरों और कस्बों तक, प्रतिष्ठित और प्रशिक्षित निर्देशकों-अभिनेताओं से लेकर स्कूलों-कालेजों के नौसिखिए कलाकारों तक तथा प्रशिक्षण नाट्य-संस्थाओं एवं प्रयोगधर्मी उत्कृष्ट रंग-संस्थाओं से लेकर साधनहीन-अस्थायी नाट्य-दलों तक डा० लाल के नाटक समान उत्साह एवं रुचि के साथ खेले और देखे जाते हैं।

नाटककार लाल की भूमिका

डा० गिरीश रस्तोगी

जब नाटक की बात आती है तो आज के संदर्भ का मतलब भिन्न हो जाता है। तब उसका मतलब कृतियों की विषय-भूमियों से ही नहीं होता बल्कि नाट्यविधा और सारे रंगमंचीय संदर्भ की विशिष्टता, मौलिकता से भी होता है। हिंदी नाटक की चर्चा करते समय यह और भी जरूरी इसलिए है क्योंकि हिंदी रंगमंच क्षेत्र में एक लंबी अवधि की शून्यता, स्वयं नाटककारों के प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण, उनके झूठे दंभ बल्कि अज्ञानता से मात्र पठन-पाठन के लिए नाट्य-साहित्य लिखा गया—बहुत बड़ी संख्या में लिखा गया लेकिन विश्व-साहित्य तो दूर की बात है, भारतीय नाटकों के बीच भी हिंदी नाटक की कोई स्थिति नहीं बन पाई। स्वयं हिंदी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास की तुलना में नाटक बहुत पीछे छूट गया। नाटक को उसकी विधात्मक मौलिकता में नहीं, अन्य सभी विधाओं के समान ही देखने—देखते रहने—की भ्रामक दृष्टि पैदा हो गई। परिणामस्वरूप नाट्य-समीक्षा का भी कोई रूप ही नहीं बन पाया। वही छः तत्त्व, वही मापने की स्थूल दृष्टि, वही वर्गीकरण और शास्त्रीय मानदंडों पर कसने की अपनी जबर्दस्त कोशिश! इस शोचनीय स्थिति के पीछे हिंदी नाट्य साहित्य का सारा वह इतिहास है, वे परिस्थितियां हैं जिन्होंने उसे मौलिक स्वरूप न लेने दिया। इसका बहुत बड़ा कारण हिंदी रंगमंच की कोई स्थिति का न होना था क्योंकि जहां भी चाहे वह देश हो या विदेश, रंगमंच की दृढ़ सुनिश्चित परंपरा रही, वहां नाटक ने बहुत तेजी से और सर्वथा भिन्न रूप में अपना विकास किया क्योंकि नाट्यकृति रंगमंच की संभावनाएं बढ़ाती है और रंगमंच नाट्यकृति की। नाटककार अपने नाट्य-लेखन से रंगमंच का एक विधान प्रस्तुत करता है, नई-नई रंगशैलियों से पहचान कराता है, उनकी खोज भी करता है और रंगमंच उसे विभिन्न नए प्रयोग देकर विकसित करता है, कभी-कभी चुनौती भी देता है। यह स्थिति हिंदी नाटक में आज तो है, पहले नहीं थी। सबसे दर्दनाक स्थिति थी स्वयं नाटककार का नाटक की मौलिकता, कला-चेतना को भुलाकर नाट्यलेखन करना। उसमें न नाटक की आत्मा थी, न रंगधर्मिता यानी उसकी मूल प्रकृति की पहचान ही वहां नहीं थी।

प्रसाद के बाद के नाटककारों में अश्क, जगदीशचंद्र माथुर, भुवनेश्वर के नाटकों

में तो रंगमंचीय अर्थ था लेकिन वह बहुत आगे नहीं बढ़ सका। भुवनेश्वर की सर्जनात्मकता को तो नाटक-क्षेत्र में पहचाना ही नहीं गया और नाट्य समीक्षक नाट्य-साहित्य का इतिहास लिखते रहे और दोहराते रहे। इसलिए जब सन् पचास के बाद से नए नाट्य-लेखन की शुरुआत हुई तो इस नए दौर में नाटककार ने अपनी भूमिका को पहचाना नहीं, अपने अस्तित्व का प्रश्न भी उठाया और पुरानी विवशताओं, विषम स्थितियों को आत्मसात् करते हुए नई परिस्थितियों में अपने दायित्व को स्वतंत्र चिंतन के साथ निभाने का महत्त्वपूर्ण कदम भी उठाया। उसने कई काम एक साथ किए—नाटक को उसके प्रकृतिगत भेद के साथ लेना और तब नाट्यरचना करना; उसे नए रंग-विधान और सूक्ष्म रंग-चेतना से जोड़ना, नए शैली-शिल्प के प्रयोगों से समृद्ध करना, नाट्य समीक्षक को एक गंभीर दायित्व-बोध से सचेत करना और आधुनिक संवेदना, नई आवश्यक विषय-भूमियों से, मानव समस्याओं, द्वंद्वों और सामाजिक-राजनैतिक प्रश्नों से उसे सीधे संपृक्त करना क्योंकि इस अर्थ में नाटक सबसे सशक्त विधा है, सजीव कला है—मांसल तत्त्व से भरी-भरी !

जाहिर है कि नए नाटककार ने इस संपूर्ण दायित्व को पूरी जागरूकता के साथ संभाला और इस क्रम में लक्ष्मीनारायण लाल का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है, इसलिए और भी अधिक कि उनमें नाटककार का एक संपूर्ण, सक्रिय व्यक्तित्व है जो मानसिक, वैचारिक या काल्पनिक स्तर पर ही नहीं, शारीरिक स्तर पर भी नाटक के मैदान में सीधे उतरकर थियेटर के जागरण के प्रयत्न करता है। सभी जानते हैं कि लक्ष्मीनारायण लाल निर्देशक, अभिनेता, रंगकर्मी भी हैं और नाटककार और नाट्य-समीक्षक भी। यह शायद उनकी निर्देशकीय कल्पना, अभिनेता की भूख और कलात्मक दृष्टि और रंगकर्म की निष्ठा का ही परिणाम है कि उन्होंने नाटक को उसकी विधागत मौलिकता में पहचाना और उस पहचान की सबसे मांग भी की। इस अर्थ में दृष्टव्य है उनके नाटकों की वे भूमिकाएं जो हिंदी नाट्य-साहित्य की ऐतिहासिक स्थितियों का जायजा लेती हुई नए सवाल उठाती हैं। कुछ मानों में ये भूमिकाएं उनके नाटकों से भी ज्यादा सार्थक और सशक्त है। इनमें नाटककार का चिंतन बहुत साफ, सुव्यवस्थित और मौलिक है। 'रातरानी', 'मादा कैक्टस,' 'कलंकी,' 'तोता-मैना' की भूमिकाओं में नाटक के स्वरूप और शिल्प, रंग-शैलियों और रंग-अन्वेषण को लेकर विभिन्न महत्त्वपूर्ण संकेत हैं जो नाटककार को स्थितियों के प्रति ज्यादा ईमानदार सिद्ध करते हैं।

पश्चिम के आधुनिक रंगमंच और उसकी भयानक सीमा का जिक्र करते हुए और रेडियो, फिल्म, टेलीविजन की तुलना में रंगमंच की शक्ति को प्रतिष्ठित करते हुए वह कहते हैं—यह शक्ति है इसके काव्य तत्त्व में, इसके मांसल रंग-तत्त्व में जिसे कोकटेव ने 'रंगमंच का काव्य' कहा है। पर नाटक का यह काव्य केवल उसके कथोपकथनों में नहीं है, जैसे कि पश्चिम में शेक्सपियर और हमारे यहां जयशंकर प्रसाद और टैगोर में विद्यमान है; वरन् यह काव्यात्मकता है नाटक में व्याप्त

अभिनयात्मिका वृत्ति में, पात्रों में छिपी अभिनय-कला में, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमें नाटक के प्रस्तुतीकरण में होती है अथवा नाटक पढ़ते समय मन के मंच पर यदि उसे अभिनीत होते हुए देख सकें, तब उसमें व्याप्त रंगमंच का काव्यानंद हम पा सकते हैं।'[1] निश्चय ही यह दृष्टि हिंदी नाटककार के पास नहीं थी। वह रंगमंच की मांसलता, उसकी शक्ति और आंतरिक अन्विति से पैदा होने वाली लय और गति से परिचित नहीं था।

नाटक का अपना नाटकीय यथार्थ होता है जो नाटककार के लिए एक चुनौती होता है और जिसके लिए नाटककार की निजी रंग-दृष्टि पहली शर्त है। पुनः डा० लाल के ये वाक्य प्रस्तुत हैं—'शहरी रंगमंच के उदय में एकमात्र दिशा है पहले नाटककार की अपनी रंग-दृष्टि। आधुनिक रंगमंच ने इस क्षेत्र में आज अपने विकसित रंग-शिल्प से, अपनी प्रस्तुतीकरण-कला से यह सिद्ध कर दिया है कि नाटक लिखना लेखक की अपनी एकांत कला नहीं है; वरन् नाट्यलेखन वस्तुतः नाटककार से प्रस्तुत-कर्ता, निर्देशक की प्रतिभा की मांग करता है—वह अभिनेता, रंगशिल्पी की कला की सहज अपेक्षा करता है ताकि नाटक अपनी अभिनयात्मिका वृत्ति के साथ मंच पर रंग-कला की सहज उपलब्धि को प्राप्त कर सके और उसमें निर्देशक और अभिनेता को भी नाटककार की ही भांति अपनी-अपनी सृजनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति का अवसर और क्षेत्र मिल सके।'[2] यह कम बड़ी बात नहीं थी कि जहां हिंदी नाटककार एक अहं वृत्ति के साथ रंगमंच से कटा हुआ था और अभिनेता, निर्देशक, प्रस्तुतकर्ता को हीन दृष्टि से देखता था, वहां लाल ने नाटककार और प्रस्तुतकर्ता के अभिन्न संबंध की बात उठाई क्योंकि जहां नाट्य-रचना एक कला है, वहीं प्रस्तुतीकरण भी एक कला है। नाटककार की रचना का मंच पर निर्देशक की 'पुनर्रचना' कहना गभीर और खुली दृष्टि को सामने लाता है। मोहन राकेश ने तो रचना-प्रक्रिया और प्रस्तुतीकरण-प्रक्रिया के एक साथ जुड़ने की बात कही ही थी। स्वयं लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेंद्र वर्मा, मुद्राराक्षस, बलराज पंडित, मणि मधुकर आदि नाटककार पूरी प्रस्तुतीकरण-प्रक्रिया के साथ गुजरते हुए रचना कर रहे हैं। यह महत्त्वपूर्ण कार्य निश्चय ही नाट्य-कृति और रंगमंच दोनों को नए और अधिक गहरे कलात्मक प्रयोग, अनुभव और नए प्रतिमान देने में सहयोग देगा। आज के संदर्भ में जब हम प्रस्तुतीकरण की बात करते हैं तब नाट्यप्रस्तुति से संबद्ध हर व्यक्ति समान महत्त्व का अधिकारी है। हर एक की अलग-अलग कल्पनाशीलता एवं समझ नाटक को, रंगमंच के अर्थ को संपूर्ण करती है। आज नाटककार इस सत्य से पूरी तरह परिचित है। वह दर्शक की उपेक्षा करके भी नहीं चलना चाहता क्योंकि उसका दृष्टिकोण प्रतिक्रियात्मक नहीं है, सर्जनात्मक है। दर्शक को तिरस्कृत करके वह और चाहे कुछ कर ले, नाट्य-रचना नहीं कर सकता।

1. रात रानी, पृ० 4
2. वही, पृ० 7

भारतीय दर्शक की रुचियों, मांगों और सीमाओं का बोध भी उसे है और उसे नाटक और रंगमंच की ओर लाने, उसे संतुष्ट करने, उसकी रुचि बनाने और उसे बौद्धिक चेतना से, सही सौंदर्य-बोध से युक्त करने की सतर्कता भी उसमें है, यद्यपि धीरे-धीरे नया नाटक दर्शक को सिनेमाहॉल से रंगशाला में लाने में सफल हुआ है—अभी बहुत कम संख्या में ही और गिनती के शहरों में सही। यह कार्य अकेले नाटककार का नहीं है, यह सामूहिक प्रयास और उचित नीति-निर्धारण से ही संभव है।

ऐसा दर्शक अभी भी बनना शेष है, नाटक जिसके दिन-प्रतिदिन की जिंदगी का, दिनचर्या का एक अभिन्न अंग हो—शेष बहुत-से कामों की तरह। इसकी कल्पना काफी पहले लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रात-रानी' की भूमिका में की थी। बहुत स्पष्ट शब्दों में उन्होंने उन नाटककारों की सीमाओं, बंधी-बंधायी ड्राइंगरूमी दृष्टि का भी उल्लेख किया, जिनके नाटकों में कथानक, घटनाएं, कथोपकथन, पात्र-योजना और दृश्य-योजना तो भरपूर थी लेकिन उनमें उस 'कार्य' और रंग-तत्त्व का एकदम अभाव था जो नाटक की विलक्षणता का कारण है। वर्तमान परिस्थितियों में नाटककार के दायित्व को एक साथ कई व्यापक धरातलों पर स्वीकारने की चुनौती उनकी भूमिकाओं में निश्चित रूप से बड़ी दृढ़ता से सामने आई है। नई विषय-वस्तु से जुड़े होने पर भी 'रात-रानी' नाटक अपने आपमें उतना ठोस नहीं है जितना ठोस अपनी भूमिका में है। नाटक में तो कहीं-कहीं विशुद्ध संवादात्मक शैली है; स्थूल कथन की प्रवृत्ति ज्यादा है, सूक्ष्म संकेत कम। नाटककार का लक्ष्य कुंतल और जयदेव की बातों में बहुत स्पष्ट है और कथा और घटना-क्रम की कल्पना और विकास उसी दृष्टि से बंटा हुआ-सा। तत्कालीन नाट्यपरंपरा से मिलती-जुलती अतिनाटकीयता, भावुकता, क्लाइमेक्स और बनावट इस नाटक में खटकती है। धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति से लक्ष्मी-नारायण लाल मुक्त होते गए हैं और उनके नाटकों में सूक्ष्म संकेत-तत्त्व, प्रतीक और व्यंजना सौंदर्य विकसित होता गया है। यह विकासमान दृष्टि और कला ही साहित्य-कार की पहचान है।

हिंदी के पास जिस समय रंगमंच की दृष्टि से बहुत नाटक नहीं थे और उसे सार्थक नाटकों की, नए नाट्य-शिल्प, नए रंग-शिल्प की तलाश थी, लक्ष्मीनारायण लाल ने निरंतर नाटक लिखकर नाटक और रंगमंच को एक दूसरे का पर्याय बनाया और हिंदी नाटक और रंगमंच दोनों के लिए नवीन राहों-दिशाओं का अन्वेषण किया। उन्होंने नए-नए प्रयोग किए—कभी नाटक को प्रतीक से जोड़कर ('मादा कैक्टस'), कभी उसे मिथक से जोड़कर ('कलंकी'), कभी एब्सर्ड नाट्य-परंपरा के निकट ले जाकर ('कॉफी हाउस में इंतजार'), कभी लघु नाटकों की शिल्पगत विशेषता देकर ('दूसरा दरवाजा', 'हाथी घोड़ा चूहा'), कभी काव्य-नाटक के रूप में ('सूखा सरोवर', 'सुंदर रस'), कभी लोकभूमि से जोड़कर ('अंधा कुआ'), कभी लोक-तत्त्वों और लोक-नाट्य-शैली से जोड़कर ('तोता मैना,' 'एक सत्य हरिश्चंद्र') आदि-आदि। ये सब नाटककार की प्रयोगशील प्रवृत्ति और उसकी शिल्पगत कुशलता को उजागर करते हैं।

ऐसा नहीं है कि इनमें से सभी नाटकों ने हिंदी नाटक या रंगमंच को कोई मोड़ देकर क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया हो। मेरी दृष्टि में आज भी 'मादा कैक्टस,' 'कर्फ्यू,' 'अब्दुल्ला दीवाना,' 'व्यक्तिगत,' 'एक सत्य हरिश्चंद्र' और उनके लघु नाटक ज्यादा सार्थक रचनाएं हैं क्योंकि इनमें अलग-अलग वैशिष्ट्य और परिवर्तन उपस्थित करने के तत्त्व विद्यमान हैं। ये सभी कृतियां आधुनिक रंग-चेतना और रंग-कला से जुड़ती भी रही हैं।

समय के साथ-साथ लक्ष्मीनारायण लाल का नाटककार व्यक्तित्व उनके नाटकों में क्रमशः विकसित होता गया है। समय की मांग के प्रति उनकी दृष्टि अवश्य सतर्क रही है। उनके नाटकों में आरंभ से अंत तक कथा के समुचित निर्वाह, गठन और आंतरिक शिल्प पर काफी विरोध हो सकता है, बहस भी की जा सकती है क्योंकि कभी कोई नाटक ज्यादा अमूर्त हो जाता है, कभी किसी नाटक में शिल्प का नयापन ही प्रमुख हो जाता है और कभी एक अच्छा-खासा नाटक अंत में जाकर शिथिल और लड़खड़ाता-सा लगने लगता है लेकिन इसमें दो राय नहीं हो सकतीं कि उनके नाटकों ने निर्देशकीय कल्पना को प्रेरित किया है। अभिनेताओं को, रंगशिल्पी को सजग जागरूक किया है। 'आधे अधूरे' को लेकर यह सामान्य शिकायत थी कि उ॰ मे नाटककार ने निर्देशकीय टिप्पणियां इतनी अधिक दी हैं कि निर्देशक को अपनी ओर से कुछ कहने को ही नहीं रह जाता। डा॰ लाल के अंतिम नाटक रंगमंचीय संभावनाओं और निर्देशक की कल्पना को पूरी छूट देते हैं। उनकी रचना कुछ इस तरह हुई है कि निर्देशक नाटककार के निर्देश, रंग-संकेत मानने को बाध्य नहीं है बल्कि वह अपनी कल्पना, सृजनशीलता के आधार पर नाटक की 'पुनर्रचना' करने को स्वतंत्र है। 'व्यक्तिगत' नाटक इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। शायद इसीलिए उसके निर्देशक एम॰ के॰ रैना ने कहा कि "निर्देश नहीं थे। इसीलिए 'व्यक्तिगत' के लिखित शब्दों ने मुझे मंच पर दृश्यबिंबों की रचना की ओर सहज ही प्रेरित किया। आकार को साकार करना जिसे कहते है, कुछ वैसा ही भाव मुझे मिला इसकी निर्देशन-प्रक्रिया में।"[1] मेरा ख्याल है कि यह महज संस्तुति नहीं है। यद्यपि नाटक से ज्यादा नाटक की प्रस्तुति प्रभावशाली थी फिर भी यह सत्य आज के संदर्भ में अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि नाट्य-रचना के भीतर नाटक का रूप-बंध, उसकी रंग-शैली छिपी होती है जिसकी खोज और प्रस्तुति के लिए निर्देशक, अभिनेता, समीक्षक तीनों आकुल रहते हैं। पहले नाटक में रंग-निर्देश ही बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ करते थे, भले हो उन रंग-निर्देशों में नाटक की सही कल्पना हो या न हो या वे सिर्फ एक परंपरा का निर्वाह करने के लिए हों ताकि उनके कारण वह पुस्तक नाटक कहला सके या स्वयं नाटककार बड़े-बड़े विचारपूर्ण सोद्देश्य संवादों को विशेषता देता था लेकिन अब नाटककार इस चहारदीवारी से बाहर आ चुका है।

वह केवल अपने को ही नाटक का अंतिम नियामक न मानकर भविष्य के लिए

1. व्यक्तिगत, पृ॰ 5

भी बहुत कुछ छोड़ देता है। इसलिए उसके छोटे-छोटे या बड़े-बड़े भी संवादों की लय में एक लय तो होती ही है, व्यंजना का अद्भुत सौंदर्य और रंगमंच की भाषा भी होती है जो नाटक और रंगमंच को लय-शक्ति और अर्थ-शक्ति दोनों देती है। 'व्यक्तिगत' में यह खूबी है। उसके लय-टोन, गति में ही पूरा नाटकीय यथार्थ है। आज की अपेक्षाओं के प्रति यदि नाटककार सजग न होता तो शायद उसे अपने ही पुराने नाटकों का नया संस्करण करने की आवश्यकता न पड़ती। 'मादा कैक्टस' के नए संस्करण में अनावश्यक विस्तार के स्थान पर नाटक की तेज़ गति और कार्यप्रवाह को चुस्त बनाने की चेष्टा की गई है। पात्र यहां पहले की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक भी हो गए हैं और उनके आपसी संबंधों के पीछे नाटककार की दृष्टि और योजना ज़्यादा अर्थपूर्ण हो सकी है क्योंकि चरित्रों की परिकल्पना से, उन्हें आज का सामाजिक संदर्भ देने से नाटक उस भावुकता, आस्था और सम्मोहन के वातावरण से मुक्त हो गया है जो पहले संस्करण में था। साफ लगता है कि नाटककार अपनी परिवर्तित दृष्टि और आधुनिक जीवन की आक्रामकता और कटुता को नाटक का हिस्सा बनाने के लिए और रंगमंच के और अधिक अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्नशील हो, व्यर्थ के प्रयोग निकालकर उसे अधिक सांकेतिक और उसके प्रतीक और भाषा को और उसकी प्रयोग-शीलता को अर्थवान् और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए तैयार हो। नाटककार का यह प्रयत्न एक ओर वर्षों बाद भी इस नाटक की नवीनता, उपयोगिता—साहित्यिक और रंगमंचीय दोनों दृष्टि से—को स्थापित करता है, दूसरी ओर सामाजिक संदर्भों और रंगमंच की अपेक्षाओं के प्रति अपनी निष्ठा और जागरूकता को भी। इसी दृष्टि से 'तोता मैना' को 'सगुन पंछी' का नया संस्करण देने की आवश्यकता का अनुभव करना महत्त्वपूर्ण कदम कहा जाएगा क्योंकि इस समय निर्देशक भी और रंग-जगत् भी लोक-परंपराओं और लोक-शैलियों से जुड़ने और उनकी खोज करने की दिशा में कुछ सोचने लगा है। 'बकरी' की प्रस्तुति से यह परिवर्तन और तेजी से आया। यद्यपि कई वर्ष पहले लक्ष्मीनारायण लाल ने आधुनिक रंगमंच की दिशा को अपनी ही भूमि में, अपने दर्शकों और अपनी पीड़ा में देखने की बात उठाई थी।[1] अपने एकांकी-संग्रहों की भूमिकाओं में भी उन्होंने स्पष्ट कहा था कि "मूल प्रश्न अपनी रंग-दृष्टि का है जिसके अंतर्गत दो दिशाएं अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं कि हम 'हम' हैं—भारतीय हैं, हमारा रंगमंच ज्यों का त्यों पश्चिम का ही नहीं है। हालांकि पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियां ही हमारे सामने हैं पर उसे बेधकर हमें अपने रंग-रंग, रंग-धर्मिताएं और रंग-रूढ़ियों से अपने रंग-उल्लास, प्रेरणा और रंग-कर्म को सुसंपृक्त कर देना है।"[2] भारतीय रंग-तत्त्व की खोज आज का एक अनिवार्य प्रश्न है। "हिन्दी भाषी प्रदेश का अपना वातावरण है, लोक-परंपराओं का धनी प्रदेश है यह। यहां की अपनी आवश्यकताएं हैं,

1. रातरानी, पृ० 6
2. नाटक बहुरंगी, पृ० 9

इच्छाएं हैं। क्यों नहीं हिंदी रंगमंच उनका प्रतिनिधित्व करता ? क्यों नहीं वह हमारे दैनंदिन जीवन से अनुस्यूत होकर उसका ही एक अनिवार्य हिस्सा हो पा रहा है ?"[1] शायद इस आवश्यकता को समझकर ही 'तोता मैना' लिखा गया था लेकिन तेरह-चौदह वर्ष पहले का यह प्रयत्न वहीं रुक गया। आगे ऐसा प्रयोग नहीं किया गया। क्यों ? क्या दर्शक और निर्देशक की उसके अनुकूल मनःस्थिति न होने के कारण ? हिंदी रंगमंच पर आभिजात्य संस्कारों और आधुनिक प्रयोगोंके हावी होने के कारण ? और शायद इसी अनुभव से नाटककार ने 'तोता मैना' की राह छोड़कर 'कर्फ्यू' 'अब्दुल्ला दीवाना', 'दूसरा दरवाजा' या 'कॉफी हाउस में इंतज़ार' आदि की राह अपनाई और जब अब हिंदी रंगमंच आधुनिक प्रयोगों, पश्चिमी रंग-शैलियों और नए नाट्यरूपों से समृद्ध हो चुका या उसका आधुनिकता के नाम पर काफी विकास हो चुका तो हिंदी रंगमंच की निजी प्रकृति को पहचानने और लोक-तत्त्वों को लेकर नाटक को बंद प्रेक्षाग्रहों से निकालकर खुले जन-समूह में ले जाने की आवाज उठाई गई और 'तोता मैना' इसीलिए नए संस्करण में 'सगुन पंछी' हो गया। साथ ही 'एक सत्य हरिश्चंद्र' ने लोक-नाट्य-शैली की स्वाभाविक लय में जन्म लिया। ये दोनों प्रयास नाटककार की सर्जना और समय एवं रंगमंच के प्रति सजगता के उदाहरण हैं।

नाटककार जहां अपने को मोड़ सकता है, वहीं वह अपनी नाट्य-रचना से समय, साहित्य और रंगमंच को भी नए मोड पर ला सकता है। लक्ष्मीनारायण लाल निर्देशक-अभिनेता होने के कारण अगर इस दिशा में अधिक सक्रिय कदम उठाएं तो उनकी नाट्यरचना अपनी ही जड़ों से जुड़कर पोषित होने और हिंदी की अपनी रंग-धर्मिता को ढूंढ निकालने में पहल कर सकती है। यह विरोधाभास क्यों लगे कि जो नाटककार नाटक की भूमिकाओं में अपनी ही रंग-परंपरा खोजने-बनाने की बात कह रहा हो, उसी के अधिकांश नाटक पश्चिमी रंग-विधान और शैली-शिल्प से बंधे हुए हों। डा० लाल तो यह मानते ही हैं कि "अपने रंगमंच का अपना रंगविधान एक सुनिश्चित दृष्टि और उद्देश्य के साथ सर्वप्रथम नाट्यलेखन स्तर से उभरता है।"[2]

लेकिन नाटक केवल रंगमंच की वस्तु ही नहीं है, वह साहित्य भी है और कविता, कहानी, उपन्यास की तरह उसमें साहित्यिक अपेक्षाएं भी रहती हैं— संवेदना के स्तर पर, भाषा और अभिव्यक्ति के स्तर पर। हर साहित्यिक विधा की तरह नाटक भी समकालीन संदर्भों में, आधुनिक संवेदना से जुड़ता है। आज की समस्याएं, मानव-मन का द्वंद्व, उसका बाह्य संघर्ष, जटिलता, तनाव, विसंगतियां उसके केंद्र में भी हैं। जाहिर है कि सारे आधुनिक वातावरण या समस्याओं से जूझता हुआ नाटककार नाट्यरचना को विभिन्न संदर्भ-सूत्र पकड़ाएगा।

1. नया प्रतीक : हिंदी रंगमंच : आंदोलन के अवरोधी तत्त्व : जून, 1975—ले० गिरीश रस्तोगी, पृ०. 72
2. नाटक बहुरंगी : पृ० 11

यद्यपि अन्य भारतीय नाट
बनाया फिर भी लक्ष्मीनारायण ला
परतें खोली हैं। समाज और जी
पहुंचकर भी विभिन्न प्रश्नों को
मूल्यों, विचारों के आने से, पुराने
अविश्वास-अनास्था-अपराध-भाव
अधूरी हास्यास्पद कोशिश दिखा
रानी' में जातिप्रथा का विरोध,
बाह्य दृष्टिकोण की आलोचना,
हुआ व्यक्तित्व, 'मादा कैक्टस'
सिक तनाव, 'मि० अभिमन्यु' में
वेशों-स्थितियों में रखकर बड़ी
बिंदु हैं जिनसे दृष्टि हटाना मु
पाने के लिए विवश अभिमन्यु
सवाल बिल्कुल आज के सं
है।" इसी तरह 'कलंकी' कि
व्यंग्य है। हिंदू मियक को क
का संप्रेषण किया गया है।
प्रक्रिया की अनिवार्यता' को
निजी तलाश सच्ची आधुनि
सर्वथा नए जीवन-बोध, न
के सृजन की विवशता होगी
स्थापित उसे शून्य और
स्पद सवाल उठ सकते हैं
विषयभूमि और कला-भू
चायक है। 'कर्फ्यू' बोलत
द्वारा नाटककार ने अपनी
कि यह बाहरी कर्फ्यू भी
लगाए सामाजिक अंकुश
इस भीतरी कर्फ्यू का
विषय की कल्पना और
करता है और बहुत-से
नाटककार को यह अव

1. कलंकी : पृ० 5

यद्यपि अन्य भारतीय नाटककारों ने अपने विषय-क्षेत्र को बहुत व्यापक नहीं बनाया फिर भी लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने अनेक नाटकों में समकालीन जीवन की परतें खोली हैं। समाज और जीवन की व्यापक समस्याओं और उनकी जड़ों तक न पहुंचकर भी विभिन्न प्रश्नों को नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जीवन के नए मूल्यों, विचारों के आने से, पुराने मूल्यों के विघटन से जो समस्याएं पैदा हुई हैं, जो अविश्वास-अनास्था-अपराध-भाव बढ़ा है और अंदर के खोखलेपन को ढंकने की अधूरी हास्यास्पद कोशिश दिखाई देती है, वह उनके नाटकों के केंद्र में है। 'रात-रानी' में जातिप्रथा का विरोध, वैवाहिक आडंबरों का विरोध, जीवन के प्रति भौतिक बाह्य दृष्टिकोण की आलोचना, पत्नी का समर्पित किंतु निजी अस्तित्व की मांग करता हुआ व्यक्तित्व, 'मादा कैक्टस' में दो पीढ़ियों का संघर्ष, आक्रोश-व्यथा और मानसिक तनाव, 'मि० अभिमन्यु' में आधुनिक मनुष्य को बाह्य और आंतरिक दोनों परिवेशों-स्थितियों में रखकर बड़ी सूक्ष्मता के साथ उसके जीवन की त्रासदी आज के ऐसे बिंदु हैं जिनसे दृष्टि हटाना मुश्किल काम है। मि० अभिमन्यु परिस्थितियों से न लड़ पाने के लिए विवश अभिमन्यु है। "उसकी त्रासदी बिलकुल आज की त्रासदी है। उसके सवाल बिलकुल आज के सवाल हैं। × × उसका चक्रव्यूह बिलकुल आज का चक्रव्यूह है।" इसी तरह 'कलंकी' मिथकीय प्रयोग में भी वर्तमान परिस्थितियों पर करारा व्यंग्य है। हिंदू मिथक को वर्तमान जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखकर यथार्थ युग-बोध का संप्रेषण किया गया है। 'प्रतिष्ठित स्थापित को अस्वीकार' करते हुए और 'रचना-प्रक्रिया की अनिवार्यता' को महसूस करते हुए डा० लाल कहते हैं कि "कला-मूल्यों की निजी तलाश सच्ची आधुनिकता की पहली और अनिवार्य शर्त है। ऐसी शर्त उसे जब सर्वथा नए जीवन-बोध, नई चुनौती तथा जीवन के किसी नए प्रश्न-चिह्न तथा अनुभव के सृजन की विवशता होगी। ऐसी विवशता और संकल्प के सामने ही हर प्रतिष्ठित-स्थापित उसे शून्य और झूठा लगने लगता है।"[1] यद्यपि 'कलंकी' में बहुत-से विवादास्पद सवाल उठ सकते हैं लेकिन अपने संदर्भ और मिथकीय प्रयोग में वह नया है और विषयभूमि और कला-भूमि के नएपन की ओर नाटककार की जागरूकता का परिचायक है। 'कर्फ्यू' बोल्डनैस का नाटक है जिसमें वर्जनाओं से घिरे दांपत्य जीवन के द्वारा नाटककार ने अपनी इस धारणा को 'कर्फ्यू' के प्रतीक के द्वारा संप्रेषित किया है कि यह बाहरी कर्फ्यू भीतरी कर्फ्यू का···व्यक्तियों द्वारा अपनी सहज कामनाओं पर लगाए सामाजिक अंकुश का ही विस्तार (एक्सटेंशन) या प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) है। इस भीतरी कर्फ्यू का ही विस्फोट दंगों या दूसरी विकृतियों के रूप में होता है। विषय की कल्पना और लचीली नाट्य-भाषा के संदर्भ में यह नाटक सोचने पर विवश करता है और बहुत-से सवाल उठाता है जिन पर अलग से विचार होना चाहिए। नाटककार को यह अवश्य सोचना पड़ेगा कि क्या नाट्यविधा में यौन संबंध या प्रसंग

1. कलंकी : पृ० 5

ही 'बोल्डनैस' का प्रमाण हैं और क्या यह 'बोल्डनैस' नाटक के लिए उपयुक्त दिशा है ? कुछ सामाजिक समस्याएं इतनी जटिल होती हैं कि उनका कोई सहज समाधान संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में जरूरी भी नहीं कि नाटककार कोई समाधान प्रस्तुत करे ही। 'अब्दुल्ला दीवाना' समकालीन सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रहार करने वाला नाटक है। आज की स्थिति और सभी क्षेत्रों में व्याप्त जीवन के विघटन पर तीखा व्यंग्य करता हुआ वह जीवन के खुरदुरे यथार्थ से साक्षात्कार कराता है। 'अप्रासंगिक' में विश्वविद्यालयी जीवन में फैली उच्छृंखलता, अनैतिकता, अव्यवस्था है तो 'दूसरा दरवाजा' में आज की शिक्षा-व्यवस्था की निरर्थकता, युवा-वर्ग की दिशा-हीनता और क्रूर व्यवस्था के हाथों जकड़ी मानवता और चारों ओर फैले भय के आतंक का वातावरण है। 'हाथी घोड़ा चूहा' अपनी प्रतीकात्मकता और प्रयोगशीलता में एक ओर आज की बेबस जनता की पीड़ा को छूता है दूसरी ओर अफसर वर्ग की मनोवृत्ति, पर चोट करता है, तो इन लघु नाटकों के साथ उनका बहुचर्चित नाटक 'व्यक्तिगत स्वातंत्र्योत्तर भारत के जीवन को, संपूर्ण को एक बृहत पैमाने पर परिभाषित करता हुआ बड़ी तेज गति में चलता है। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' भी अपने पौराणिक कथानक और लोक-रूप में आधुनिक सत्य को प्रस्तुत करता है। इन सभी बातों से इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटक में मनुष्य को ले आना, उसी के परिवेश, समस्याओं, दुर्बलताओं, द्वंद्वों को प्रस्तुत करना और साक्षात्कार कराना नाटककार की महत्त्वपूर्ण भूमिका का ही अंग है।

नए नाटककार ने एक और बड़ा काम यह किया है कि उसने नाटक के प्रति समीक्षक की बधी-बधाई, फार्मूलावादी दृष्टि के खिलाफ स्वयं लड़ाई लड़ी है। नाट्य-समीक्षा अभी भी कितनी पीछे है, यह छिपा नहीं है। नाटककार ने और रंगकर्मियों ने नाटक के प्रति मौलिक समीक्षा-दृष्टि की आवाज उठाई। गोष्ठियों, निबंधों, टिप्पणियों, भूमिकाओं और अपनी पुस्तकों से उन्होंने समीक्षा का एक स्वरूप उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया। डा० लाल ने 'पारसी रंगमंच' और 'आधुनिक हिंदी नाटक और रंग-मंच' पुस्तकों द्वारा इस सत्य को भी प्रकट किया कि नाटककार केवल नाट्य-रचना करके ही अलग नहीं हो जाता, वह रचना के समय समूची रंग-प्रक्रिया से गुजरता है और नाटक को भिन्न दृष्टि से देखने की मांग करता है। वह स्वयं उसके दौरान आने वाली एक-एक समस्या से जूझता है और समीक्षक से भी उसकी मांग करता है। वह नाटक को व्यापक क्षेत्र से जोड़ता ही नहीं, अपनी रचना में नई शैलियों, नए रूप-विधान, सार्थक लचीली भाषा और उपयुक्त रंग-परंपरा की खोज भी करता है।

क्या कारण है कि आज नाटक लिखे जाने की प्रक्रिया में ही निर्देशक के हाथ में पहुंच जाता है। रिहर्सल की सारी स्थितियों के बीच से होता हुआ वह सृजन करता है, सृजन के साथ चलता और सोचता और करता है। सृजनभूमि पर पहुंचकर वह पहले दर्शकों से साक्षात्कार करता है फिर पाठकों से यानी आज प्रस्तुति पहले, प्रकाशन बाद में। यह अच्छी स्थिति है। नाटककार का झूठा दंभ इससे टूटा है, उसे रंगमंच के

व्यापक अर्थ की अनुभूति और
चहारदीवारी के बीच रचना नहीं
कर रचना करता है जिसमें उस
है। लक्ष्मीनारायण लाल भारतीय
से पूरी तरह अवगत हैं, इसलिए
नाटककार अगर अपनी भूमिका
सामने आज यही मुख्य प्रश्न है कि
उसकी गति क्या हो ? निर्देशक
प्रयोगधर्मी प्रवृत्ति के हैं, समर्थ हैं
रचनात्मक कृति देने का। य
हिंदी में बंगला, मराठी के समक
समर्थ नाट्यकृति नहीं है। इस
है लेकिन वह अभी आभिजा
कुछ दर्शकों की बौद्धिक खुराक

क्यों हिंदी प्रदेश के
और आधुनिक जीवन, आधु
आधुनिक जीवन और उस
पुरुष-संबंधों की विडंबना,
विघटन, आक्रोश और कटु
के विषय हो सकते हैं ?
इतने बड़े भारतवर्ष—जो
और अनग समस्याएं औ
मध्यवर्ग की दीवारों से
लब वह बहुत बड़ा
हैं। सब कुछ दिल्ली ही
विसंगतियों से अलग
पर जाता ? नाटक '
केवल मनुष्य का है,
है क्योंकि यह दर्पन
और समझाना ना
करना भी दुष्कर न

व्यापक अर्थ की अनुभूति और गहराई से हुई है। वह अपने ड्राइंगरूम में बैठा बंद चहारदीवारी के बीच रचना नहीं करता है, पूरे मंच को अपने मनःलोक में प्रत्यक्ष रखकर रचना करता है जिसमें उसका अध्ययन, चिंतन, अन्वेषण शक्ति भी सहायक होती है। लक्ष्मीनारायण लाल भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-परंपराओं और रंग-परंपराओं से पूरी तरह अवगत हैं, इसलिए भारतीय रंग-तत्त्व की खोज कठिन कार्य नहीं है। नाटककार अगर अपनी भूमिका का दायित्वपूर्ण निर्वाह करना चाहता है तो उसके सामने आज यही मुख्य प्रश्न है कि रंगमंच अगर बहुत सक्रिय और विकासोन्मुख हो तो उसकी गति क्या हो ? निर्देशक और रंगकर्मी अगर कल्पनाशील, सृजनशील और प्रयोगधर्मी प्रवृत्ति के हैं, समर्थ हैं और ज्ञाता हैं तो नाटककार के सामने प्रश्न है अधिक रचनात्मक कृति देने का। यह बात हिंदी नाटक के प्रसंग में इसलिए उठती है कि हिंदी में बंगला, मराठी के समकक्ष या विश्व नाट्य साहित्य के समकक्ष अभी भी बहुत समर्थ नाट्यकृति नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारा नाटक और रंगमंच विकसित तो है लेकिन वह अभी आभिजात्य संस्कारों से बंधकर रह गया है। क्यों नाटक केवल कुछ दर्शकों की बौद्धिक खुराक बनकर रह गया है ?

क्यों हिंदी प्रदेश के हर क्षेत्र में नाटक कुछ विशिष्ट लोगों, विशेष रुचियों और आधुनिक जीवन, आधुनिक समाज और आधुनिक दृष्टि से ही बंधा है। क्या मात्र आधुनिक जीवन और उसकी जटिलता, मानवीय संबंध और उनका बिखराव, स्त्री-पुरुष-संबंधों की विडंबना, व्यवस्था का विरोध और उपहास, पारिवारिक स्थिति का विघटन, आक्रोश और कटुता, सेक्स और मूल्यहीनता, कुंठाएं और ग्रंथियां यही नाटक के विषय हो सकते हैं ? या होने चाहिएं ? क्या इन आधुनिक प्रश्नों के अतिरिक्त इतने बड़े भारतवर्ष—जो मूलतः सामान्य जनता का देश है—की, व्यापक जन-समूह की और अलग समस्याएं और आवश्यकताएं नहीं हैं ? कब तक नाटककार उच्चवर्ग और मध्यवर्ग की दीवारों से घिरा रहेगा ? भारतवर्ष का मतलब या हिंदी प्रदेश का मतलब वह बहुत बड़ा जनसमुदाय है जिसकी विवशता, करुणा, आवश्यकताएं हमसे भिन्न हैं। सब कुछ दिल्ली ही नहीं है। इस महानगरीय जीवन की आपाधापी, रिक्तता और विसंगतियों से अलग बहुत बड़ा क्षेत्र है। क्यों नहीं नाटककार का ध्यान उस 'पीड़ा' पर जाता ? नाटक 'दर्पन' की भूमिका की वह पंक्तियां याद आती हैं कि "हमारा दर्पन केवल मनुष्य का है, केवल मनुष्य का ! हम अपने उन पूर्वजों से भी ज्यादा भाग्यवान् हैं क्योंकि यह दर्पन भी मनुष्य के ही हाथ में है।" इस 'मनुष्य' की जरूरतों को समझना और समझाना नाटककार का दायित्व है। शायद तब भारतीय रंग-तत्त्व की खोज करना भी दुष्कर नहीं होगा।

'बहुरूपी : बहुरंगी'

नर नारायण राय

नाटक के भीतर का काव्यत्व 'दृश्य' होकर रंगमंच पर अभिव्यक्ति पाता है। इस तरह वह नाटक अपने भीतर से बाहर आता है। यही 'नाटकत्व' है, नाटक का रंग-धर्म। यह मंचीय अभिव्यक्ति कैसी होती है—इस पर नाटक के दर्शकों का अनुपात निर्भर करता है। जिस प्रकार की अभिव्यक्ति में सबको कुछ न कुछ अपनी बात नजर आए, वही श्रेष्ठ रंग-शिल्प है। इसी में नाटक के काव्यत्व का गौरव कि नाटक के काव्य को 'किस प्रकार' देखा गया। यहीं वह मूल बिंदु है जहां नाटक अपने 'नाटकत्व', अपने 'रंगधर्म' के कारण अन्य साहित्य-विधाओं से पृथक एक स्वतंत्र विधा सिद्ध होती है और संयोगवश जिसकी तलाश आज के नाट्यालोचन में विचार का पहला मुद्दा होता है। 'नाटक' देखने वालों का होता है। इसलिए नाटकों का दर्शकों से जुड़ना स्वयं उनके अस्तित्व के लिए आवश्यक होता है। दर्शक नाटक से जुड़ें, इसकी एक ही शर्त है कि हर प्रकार के दर्शक को अपनी चीज नाटक में मिले। इसके लिए यह जरूरी होता है कि नाटक दर्शक से आए। तभी वह दर्शक का नाटक हो सकता है। दर्शक और उनकी 'चीज' यानी उनकी रुचि और आवश्यकताएं बहुत हैं, होंगे। इसलिए नाटकों का बहु-रूपी-बहुरंगी होना सार्थक होता है। तमाम आम आदमी के रोजमर्रे की जिंदगी में बहुत सारा ऐसा कुछ होता है, जो देखने में सतही तौर पर बेतुके और बेमानी लगते हैं लेकिन उस 'बेतुकेपन' में, 'बेमानी' में भी अर्थ की एक लय होती है, एक तुक होती है। यह 'लय' और 'तुक' जब साहित्यकारों द्वारा खोज ली जाती है तो वही एक श्रेष्ठ काव्य बनता है, नाटककारों के हाथों पड़कर वही एक सफल रंगधर्मी नाटक बनता है। जो दर्शकों का भी उतना ही होता है जितना नाटककार का, क्योंकि उस लय' और 'तुक' का नाटककार भी 'दर्शक' होता है। अगर वह उन्हें देख ही न पाए तो, उन अनुभवों को जी ही नहीं पाए तो वह नाटक में आए क्यों कर? नाटक बने क्या? नाटककार गढ़े क्या? अपने युग की मानसिकता की समझ के साथ जो साहित्यकार सृजन करता है वही लोक रुचियों में जीता है। नाटक जो सामूहिक काव्य-कला है, सामाजिक उपयोग की वस्तु, उसके साथ तो यह बात और विशेष रूप से लागू होती है। लोकरुचि को जगाने, जगाकर बनाए रखने और क्रमशः उसे परिमार्जित करने के लिए

"लोक मानस' के वैविध्य का स्तर
आवश्यकता सदैव अनुभव की गई
रसता के कारण नाटकों का आम
प्राप्य पाने का उसका भ्रम और
जाय। डा० लक्ष्मीनारायण
बहुरूपी' के मूल्यांकन की जरूर
जिन बहुरूपी-बहुरंगी नाटकों
पर की है उसकी उपयोगिता
जैसा नाटक मांगा, अपनी
और मर्यादाओं के मुताबि
रूपों में जीवन की विविध
से लेकर नगर-महानगर तक
ख्याति स्थापित व्यावसायिक
बाजीगरी के तमाशबीनों त
रखते हुए उनका नाटक दे
कार में मूर्त नहीं हो उठ
है तो जीवन के विविध आ
खंड, स्वयं अपना रूप-रं
श्यक होता है कि वह आ
जगत की अनुभूतियों को
अनुभव करे : तभी वह
अभिव्यक्त कर सकने
एक रंगमंच होगा और
अपने जीवन-खंडों को
के साथ दर्शक की य
इस अंतःसूत्र से नि
अनुभव खंडों के
कहीं कोई खाई न
रंग-परिवेश के नि
भी सहज, उपल
है, नाटक एवं रं
है। रंगमंच के
स्वरूप लघु नाट
सक्रियता का
और रंगधर्मि

"लोक मानस' के वैविध्य का स्तर निबाहते हुए बहुरूपी-बहुरंगी नाटकों की रचना की आवश्यकता सदैव अनुभव की गई है ताकि नाटकों की शैली-शिल्प और कथ्यगत एकरसता के कारण नाटकों का आम दर्शक 'नाटकों' के नाम से ऊब न उठे; ताकि अपना प्राप्य पाने का उसका भ्रम और पाने की कोशिश के प्रति उसकी रुचि, समाप्त न हो जाय। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के एकांकियों के संग्रह 'नाटक बहुरूपी' एवं 'नाटक बहुरूपी' के मूल्यांकन की जरूरत इसी संदर्भ में आंकी जाएगी। आम आदमी के लिए जिन बहुरूपी-बहुरंगी नाटकों की खोज डा० लाल ने अनुभव और रचना के धरातल पर की है उसकी उपयोगिता की पड़ताल भी इसी संदर्भ में की जाएगी कि उनसे जिसने, जैसा नाटक मांगा, अपनी आस्था से उन्होंने प्रयोक्ता और दर्शक की सीमाओं और मर्यादाओं के मुताबिक वैसा ही नाटक उन्हें दिया। इसलिए इन रचना रूपों में जीवन की विविधता है और भावों के 'रंग' का सतरंगापन। गांव-घर से लेकर नगर-महानगर तक, स्कूल-कॉलेजों के छात्रों के शौकिया रंगमंच से लब्धख्याति स्थापित व्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं तक—रेडियो के मूक स्रोता से लेकर बाजीगरी के तमाशबीनों तक—सबको, सबकी रुचि, सबकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उनका नाटक दे सकने की सामर्थ्य और आत्मविश्वास यों ही किसी नाटककार में मूर्त्त नहीं हो उठता; अगर वह वस्तुतः रंगधर्मिता का सुचालक-माध्यम होता है तो जीवन के विविध भाव स्तर, जीवन और जगत के परस्पर संबद्ध विभिन्न अनुभवखंड, स्वयं अपना रूप-रंग लेकर अभिव्यक्ति पाते हैं। यहां नाटककार के लिए आवश्यक होता है कि वह आम लोगों के आस्था और विश्वास को, दर्शकों की जीवन और जगत की अनुभूतियों को, अपने से बाहर के पसरे-फैले-व्याप्त रंगमंच को—अपने भीतर अनुभव करे : तभी वह जीवन और जगत की विभिन्न अनुभूतियों को रूप-रंग देकर अभिव्यक्त कर सकने वाला सुचालक-रंग-माध्यम बन सकता है। तभी उसका भी अपना एक रंगमंच होगा और तभी उस रंगमंच पर हर दर्शक अपने को, अपने अनुभवों को, अपने जीवन-खंडों को घटता हुआ, होता हुआ, दृश्य और प्रतिबिंबित पाएगा। रंगमंच के साथ दर्शक की यह साझेदारी तब सीधे नाटककार की भी साझेदारी हो उठेगी और इस अंतःसूत्र से निर्मित रंग-परिवेश रचयिता, प्रस्तोता और दर्शक को परस्पर स्वायत्त अनुभव खंडों के धरातल पर जोड़ेगा। रंगमंच और नाटक, नाटक और दर्शक के बीच कहीं कोई खाई नहीं होगी। लघु नाटककार लाल के बहुरूपी-बहुरंगी लघु नाट्य इस रंग-परिवेश के निर्माण की आंतरिक सामर्थ्य की संभावनाओं की सहज-उपज हैं, इससे भी सहज, उपलब्धि। हिंदी में लघु नाटकों का उद्भव सार्थक रंगमंच की मांग से जुड़ा है, नाटक एवं रंगमंच के बीच की मौजूद खाई से जुड़ा है, विलगाव की पीड़ा से जुड़ा है। रंगमंच के लिए अभिनेय नाटकों के अभाव और विस्तृत जनरुचि की मांग के फलस्वरूप लघु नाटक अस्तित्व में आए। एकांकियों के आविर्भाव के साथ हिंदी रंगमंच की सक्रियता का एक लंबा इतिहास जुड़ा है। इस पर भी यह सच है कि जिस अनभिनेयता और रंगधर्मिता के अभाव से युक्त पुस्तकीय—नाटकों की प्रतिक्रियास्वरूप हिंदी

एकांकियों-लघु नाटकों का आविर्भाव हुआ कालांतर सेव ही लघु नाटक खुद किताबी होकर रह गए। डा० लाल इसके कुछ खास कारण बताते हैं जिनके विश्लेषण की जटिलताओं में फिलहाल हम नहीं जाएंगे, लेकिन हम यह स्वीकार करेंगे कि 'कारवां', 'रेशमी टाई' और 'भोर का तारा' संग्रहों के बाद हिंदी लघु नाट्यों के स्वाभाविक विकास क्रम में एक गत्यावरोध आया था। यह गत्यावरोध लघु-नाट्यों की रेडियोधर्मिता के कारण और कहां तक शैली, शिल्प एवं कथ्य के क्षेत्र में उत्पन्न हो गई एकरसता के कारण उत्पन्न हुआ था, यह भी पृथक विवेच्य विषय है। ई० सन् 1950 के बाद रंग-एकांकियों की सृजन-भूमि में उत्पन्न हो गए गत्यावरोध और सन्नाटे को तोड़ने की कोशिशें डा० लक्ष्मीनारायण लाल के लघु-नाट्यों से शुरू होती हैं और इसके साथ ही हिंदी के नए रंग-एकांकियों की एक नई शृंखला भी प्रारंभ होती है। अपने रंगधर्मी, बहुरूपी, बहुरंगी लघुनाटकों के माध्यम से इन्होंने एक बार फिर नाट्यधर्मिता को सामाजिकता से, नाट्य रूप को रंगमंच से और नाटककार को दर्शक से—नए सिरे से जोड़ने की कोशिश को एक सार्थक परिणति दी है। डा० लाल के अब तक सामने आए चारों लघु-नाट्य संग्रहों, क्रमशः नाटक बहुरंगी (1960), नाटक बहुरूपी (1964), दूसरा दरवाजा (1972), एवं यक्ष प्रश्न (1976) के तथ्यात्मक विश्लेषण के माध्यम से इसे सिद्ध कर पाना बहुत कठिन कार्य नहीं होगा। अपने इन लघु नाटकों के द्वारा डा० लाल ने हिंदी के लघु नाटकों को शैली, शिल्प और कथ्य की एकरसता एवं रेडियोधर्मिता से मुक्त कर उन्हें नाट्य-प्रयोगों की सार्थकता और विकास के बहुरूपी एवं बहुरंगी विविध आयाम प्रदान किए हैं जिनकी पड़ताल हम उनकी कृतियों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करेंगे।

जिन आम लोगों के लिए नाटककार नाट्य-रूप तैयार करता है, केवल उनके जीवन की घटनाएं, चरित्र, विषय, भाव, अनुभूति को स्वीकार कर ही वह अपने नाटकों को उनका नहीं बना सकता। जिन रूप-रंगों के साथ आम लोगों की रुचि जुड़ी हुई है, उन्हें अपना कर वह ऐसा संभव कर सकता है। नाटककार के पक्ष में यहां एक बात है, सभी व्यक्ति समान रूप से लोकनाट्यों में रुचि रखते हैं। हमारे यहां की लोकनाट्य परंपरा समृद्ध और वैविध्य पूर्ण भी है और उनमें नाटक रचने की, रंग-प्रक्रिया की ऐसी बहुत-सी पद्धतियां, रूढ़ियां और अवधारणाएं हैं जो कभी पुरानी नहीं पड़ती। नाटककार अपने रंगमंच को इन पारंपरिक नाट्य-रूपों की रूढ़ियों एवं पद्धतियों से जोड़कर अपने नाट्य-रचना के शिल्प और शैली को इतना लचीला बना सकता है कि आधुनिक होकर वह सबका अपना रंगमंच बन जाय। लोकनाट्य सामान्य लोक जीवन का एक अंग है। इसलिए रंगमंच को लोक-जीवन से जोड़ने का एक सीधा और उपयुक्त माध्यम लोकनाट्य के तत्त्वों को नाट्य रूपों में स्वायत्त किया जाना है। 'हमबदन' अगर इस स्वायत्तता में इतना सफल 'प्रयोग' माना जाकर सर्वत्र प्रशंसा पा सकता है तो कोई कारण नहीं कि डा० लाल के उन्हीं तत्त्वों से निर्मित एकांकी 'दो मन चांदनी,' 'शाकाहारी', 'चौथा आदमी' और 'जादू बंगाल का' केवल इसलिए साधारण ठहरा दिया जाए कि उनमें लोकनाट्यों का 'विदूषक-बहुरूपिया' 'बहुरूपी तत्त्व' के

रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह नहीं
भी है। 'चौथा आदमी' का दृश्य
की तरह। कहीं भी, किसी भी
लगा दें—'चौथा आदमी'
मूल में लोकधर्मी नाट्यों के
एकांकी का हर चरित्र लोक
उछाल जाता है। दूसरे एक
मिल गई है, गहरी हो उठी
देता है। जहां अभिनेता हैं—
नुक्कड़ हो, चौराहा हो, ह
रंगशाला की दीवारों
ऐसा, कि जहां मन चाहा
की आवाज पर घर जा
'बंगाल का जादू' की
दर्शक हर जगह मौजूद
शायद नहीं हो। इसकी
कारण इस एकांकी का
जाता है, रंगधर्मिता—
धर्मिता—जहां नाटक
रंगमंच पर नाटक
मिलती है। नाट्य-स
की श्रेष्ठता का एक
कि दस-बीस इने-गि
उसकी सार्थकता है

डा० लाल
व्यापकता प्रदान की
उसे आम आदमी
एकांकियों में नाट्
एकांकियों के
दीवारों की मौ
गति, क्रिया
अधिकतर एका
अनिवार्यता
विरोधी संबंध
नहीं जहां

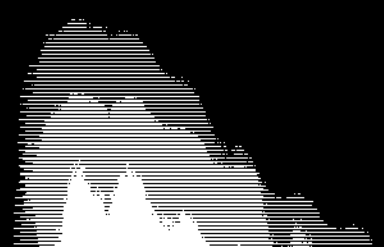

रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह नहीं कि ये एकांकी केवल 'प्रयोग' हैं—इनमें रंगधर्मिता भी है। 'चौथा आदमी' का दृश्यबंध—नितांत मुक्ताकाशी शैली का, ठीक लोकनाट्यों की तरह। कहीं भी, किसी भी खुली जगह में मंच की कल्पना कर लें—एक बेंच लगा दें—'चौथा आदमी' के लिए 'सेट' तैयार है। इस दृश्यबंध की कल्पना अपने मूल में लोकधर्मी नाट्यों के दृश्यबंध से जुड़ी लग सकती है—और शायद है भी। इस एकांकी का हर चरित्र लोकनाट्यों के स्वांगधारियों-बहुरूपियों की तरह अपने संवाद उछाल जाता है। दूसरे एकांकी 'जादू बंगाल का' में यह रंगधर्मिता कुछ और घुल-मिल गई है, गहरी हो उठी है। यह एकांकी मंच की अनिवार्यता को अस्वीकार कर देता है। जहां अभिनेता है—जहां दर्शक है, वहीं मंच, वहीं दृश्यबंध तैयार। सड़क हो, नुक्कड़ हो, चौराहा हो, हाट-बाजार हो, गली या फुटपाथ हो। नाटक, पहली बार रंगशाला की दीवारों के बाहर, खुली हवा में आजादी की सांस लेता है। नाटक ऐसा, कि जहां मन चाहा खेल लिया, जहां दर्शक मिले—दिखला दिया और डमरू की आवाज पर घर जाते राहगीरों तक को चंद लम्हें रोक सकने की ताकत शायद 'बंगाल का जादू' की अकेली ताकत है और इसी में बंगाल का 'जादू' सार्थक। इसके दर्शक हर जगह मौजूद हैं। इसे कभी दर्शकों का अभाव नहीं झेलना पड़ेगा—दो मत शायद नहीं हों। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि इसकी रंगधर्मिता है, रंगधर्मिता जिसके कारण इस एकांकी का दर्शक—एकांकी का चरित्र और अभिनेता होकर भोक्ता बन जाता है, रंगधर्मिता—जिसके कारण दर्शक और मंच की दूरी सिमट आती है, रंग-धर्मिता—जहां नाटक दर्शक से आता है और जो सारा का सारा दर्शकों का होता है। रंगमंच पर नाटक और दर्शक की इतनी बड़ी साझेदारी कम जगह ही देखने को मिलती है। नाट्य-समीक्षक सवाल उठाएंगे लोकप्रियता और मंचीय-सफलता नाटकों की श्रेष्ठता का एकमात्र मानदंड है क्या ? यहीं सवाल यह भी उठाया जाना चाहिए कि दस-बीस इने-गिने लोगों द्वारा नाटक के देख या पढ़ लिए जाने में ही उसकी श्रेष्ठता, उसकी सार्थकता है क्या ?

डा० लाल ने नाटकों को रंगशाला की दीवारों से आजाद कर 'रंगमंच' को व्यापकता प्रदान की है। तय है कि वे नाटकों को 'रंगशाला प्रयोग' की वस्तु न मानकर उसे आम आदमी के आस्वाद से जोड़कर देखते हैं। इसलिए डा० लाल के अधिकांश एकांकियों में नाट्यगृह की दीवार, दृश्यबंध की सीमा नहीं मिलती। इसलिए अधिकतर एकांकियों के दृश्यबंध घर की दीवारों से भी आजादी लेकर लिखे गए हैं, जहां दीवारों की मौजूदगी स्वीकार की गई है वहां भी महत्त्व दीवार को न दिया जाकर गति, क्रिया व्यापार और समूहन क्रिया पर दृष्टि केंद्रित रखी गई है। इसलिए अधिकतर एकांकियों के लिए नाटक के 'अपने रंगमंच' में दृश्यबंध की दीवारों की अनिवार्यता नहीं है—'मम्मी ठकुराइन' में भी नहीं जहां दो परिवारों के पारस्परिक विरोधी संबंधों को उजागर करना नाटककार का इष्ट रहा है, 'सुबह के पहले' में भी नहीं जहां स्टेशन के 'वेटिंग रूम' के मंच पर संयोगवश दो बिछुड़े प्रेमियों का मिलन

होता है पर जहां प्रकाशवृत्त केवल डाक्टर दंपति और मरीज पर ही टिका रहता है, शेष—निविड़ अंधकार से आवृत; 'औलादी का बेटा' में भी नहीं जहां परदा औलादी-बहू के आंगन में उठता है, 'गली की शांति' में भी नहीं—अन्यथा गली के जीवन को जीवन-संदर्भ देना सहज नहीं रह जाता। डा० लाल के ये सारे एकांकी 'बंद कमरे' के पूर्वाग्रह को तोड़ते है क्योंकि उनके रंगमंच का विस्तार गली-कूचे, हाट-बाजार, पार्क-मैदान, नुक्कड़-चौराहा तक है, रंगभूमि—यह संपूर्ण दृश्य जगत है। इसलिए अधिकांश एकांकियों का गठन मुक्ताकाशी शिल्प पर आधारित है और उनमें लोकनाट्य के तत्वों का समाहार भी हुआ है। नाट्य-प्रयोग के रूप में स्वीकृत 'मुक्ताकाशी' मंचबंध भी लोक-नाट्य से ही छनकर आया प्रभाव है, मेरी अपनी दृष्टि। डा० लाल के ये सारे प्रयास सामाजिकता के धरातल पर नाटकों को संभवत: पहली बार वह व्यापकता प्रदान करता है और एक नाटक 'नाटक' होकर जन-मानस से जुड़ता है। रंगमंच पर अब प्रयोक्ता नए प्रयोग कर लेते हैं। लेकिन कुछ दिन पहले तक उनका यह 'दुस्साहस' माना जाता था, नाटक के साथ खिलवाड़। ऐसे प्रयोक्ताओं को चाहिए था 'काल पुरुष और अजंता की नर्तकी' जैसी नाट्यकृति क्योंकि वे रंग-शाला की दीवारों को तोड़ने का साहस नहीं रखते थे। उन्हें दीवारें प्रिय थीं—दीवारें उनकी विवशताएं थीं। 'काल पुरुष और अजंता की नर्तकी' में कमरे की दीवारें मौजूद हैं और विवशताएं भी। कौन किसका प्रतिरूप, प्रतिनिधि बनकर आया है—कहना मुश्किल लगता है लेकिन एक बात तो तय-सी है कि डा० लाल को सबके जरूरत की 'चीज' देनी थी और जरूरतमंद वे भी थे जिनमें नाटक खेलने का चाव तो खूब था पर जो किसी कारणवश कमरे की दीवारों से बाहर नहीं निकल सकते थे। उनकी रुचि और आवश्यकता को पूरा करना, उनकी मानसिकता की खुराक जुटाना भी नाटककार अगर अपनी जिम्मेवारी मानता है तो उसे उनके लिए भी ऐसा कुछ देना था जो अपनी रंगधर्मिता का निर्वाह भी करे और भिन्न रुचियों का पोषण भी। इस सबसे अलग-थलग एकांकी है 'शरणागत,' मूलत: ध्वनि नाट्य, जो यहां मंच नाट्य की तर्ज पर प्रस्तुत किया गया है। इस रेडियोधर्मी नाट्य कृति को डा० लाल के अन्य लघु-नाट्यों से मिलाकर यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि रेडियोधर्मी नाटकों को मंचीय-छद्म में पेश किए जाने की साजिश कितनी पुरानी नहीं है। निश्चय ही ऐसे नाटक एक दृश्य प्रस्तुत कर सकते हैं पर उस दृश्य की मूल संवेदना, उसकी रंग-धर्मिता, हर नई प्रस्तुति में निखरने वाला उसका हर नया वह 'रूप' जो उसे पृथक स्वायत्तता प्रदान करता है, यहां उपेक्षित होकर रह जाता है। न जाने ऐसे कितने रेडियो नाट्य हेर-फेर से मंच-नाट्य के रूप में प्रस्तुत किए जाते रहे हैं और जब-जब रंगमंच उनकी रंगधर्मिता को उजागर कर सकने में असफल रहा है—रंगमंच की अक्ष-मता का प्रश्न उठाया जाता रहा है और इस नाम पर नाटकों को रंगमंचों से आजादी दिलाने के नारे दिए जाते रहे हैं। जो नाटक है वह रंगधर्मी होगा ही और रंगमंच उसकी क्षमताओं को उभारेगा। रंगमंच रंगधर्मिता उत्पन्न नहीं कर सकता—तब सारे

रेडियो-नाटक सफल और सार्थक 'दृश्य
इस ध्वनि नाट्य को रंग-नाट्यों के
वर्षों के छल की बात और उभर आ
रहा है।

'न टक बहुरूपी' संग्रह में भी
'ठंडी छाया,' 'भंवर' और 'वसंत
शिल्प और (एरिना) अखाड़ा—
में भी कमरे की दीवारों के प्र
बत्तियों के चमक-दमक और वैभव
था, उनकी साधन-संपन्नता
उपयोग के अलावा भी इन एकां
करते हुए भी अपने आपमें
की अबाधता द्वारा दीवार को
गतियों, गति समूहनों और
हित जीवन, प्रतिबिंबित हो
जो बंधनों को अस्वीकार क
बहुरूपी' की एकांकियों में
वास्तविक जीवन के तत्वों
उभारने की ओर रहा है।
निर्माण किया जाता है
रहकर नहीं किया जा
आवश्यक होता है—
देखता है और तब र
'बहुरूपी' संग्रह के इन
घटना जरूर ली गई
टीकाकारों के लिए
से स्वयं उसकी व्या
श्रेष्ठ सिद्ध हो
उसका उद्गम कि
राय में उसकी ए
एक एकांकी
कि इस एकांकी
के जीवन के ए
नहीं—तब
यह उपजता

रेडियो नाटक सफल और सार्थक 'दृश्य' ही बनते, ध्वनि-नाट्य नहीं। डा० लाल के इस ध्वनि नाट्य को रंग-नाट्यों के बीच में मौजूद पाकर सहसा रंगमंच के साथ हुए वर्षों के छल की बात और उभर आती है, जिस उभारना नाटककार का लक्ष्य भी रहा है।

'नाटक बहुरूपी' संग्रह में भी 'वरुण वृक्ष के देवता,' 'मीनार की बाहें,' 'रावण,' 'ठंडी छाया,' 'गदर' और 'बसंत ऋतु का नाटक' बिल्कुल खुले रंगमंच, मुक्ताकाशी—शिल्प और (एरिना) अखाड़ा—रंगमंच की चीज हैं। इस संग्रह की शेष एकांकियों में भी कमरे की दीवारों के प्रति आग्रह नहीं दीखता। सुविधाभोगियों-अभिजात्य-वर्गियों के चमक-दमक और वैभवपूर्ण प्रदर्शनों के लिए भी नाटककार को कुछ देना था, उनकी साधन-संपन्नता का उपयोग भी नाटककार को करना था; लेकिन इस उपयोग के अलावा भी इन एकांकियों में कहीं गहरे—कमरे की दीवारों को रूपायित करते हुए भी अपने आपमें बंद न रहने, सीमित न रहने, अपनी गतियों और कार्यों की अबाधता द्वारा दीवार को पार कर जाने की प्रवृत्ति भी मौजूद दीखती है। इनकी गतियों, गति समूहनों और कार्यों की अबाधता में सतत् प्रवहमान जीवन, सहज प्रवाहित जीवन, प्रतिबिंबित हो उठता है। जीवन की गति, जो सहजता का प्रतिफल है जो बंधनों को अस्वीकार करता है। 'नाटक बहुरंगी' के नाटकों की तुलना में 'नाटक बहुरूपी' की एकांकियों में नाटककार का आग्रह निश्चित अर्थ, विचार, उद्देश्य और वास्तविक जीवन के तत्त्वों से अपनी नाट्य-संरचना में रंगमंच का एक निश्चित स्वरूप उभारने की ओर रहा है। जीवन की किसी मूलभूत घटना पर जब किसी नाटक का निर्माण किया जाता है तो उस नाटक का अर्थापन जीवन की उस घटना से निरपेक्ष रहकर नहीं किया जा सकता। तब उस घटना को उसके संपूर्ण जीवन-संदर्भ में देखना आवश्यक होता है—और नाटक भी मूलतः देखना ही है, एक 'नाटक' जो नाटककार देखता है और तब रचता है और तब फिर उसे सबको दिखाता है। डा० लाल के 'बहुरूपी' संग्रह के इन एकांकियों में पारंपरिक और शास्त्रीय विधानों के अनुसार एक घटना जरूर ली गई है लेकिन उस घटना का अर्थापन करना केवल व्याख्याकारों-टीकाकारों के लिए ही नहीं छोड़ दिया गया है, नाटककार अपनी नाट्यकृति के माध्यम से स्वयं उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। ऐसी कृति किसी पूर्णांकी नाट्य रूप से भी श्रेष्ठ सिद्ध हो सकती है, इसकी संभावना तब उभर आती है जब नाटककार स्वयं उसका उद्गम किसी 'एंटी थिसिस' से हुआ मानता है, और जो खुद नाटककार की राय में उसकी एकांकियों का 'बहुरूपी तत्त्व' है। उदाहरण के लिए, हम इस संग्रह की एक एकांकी लेते हैं 'रावण'। सबसे पहली बात इस एकांकी में यह लक्षित होती है कि इस एकांकी का जन्म जीवन की किसी 'थिसिस' से नहीं हुआ, इसका जन्म राम के जीवन के एक करुण, गहन और निर्मम अनुभूति से हुआ है, राम के किसी विचार से नहीं—तब इस नाट्यानुभूति का जन्म 'थिसिस' से हुआ माना जाता। इसके विपरीत यह उपजता है 'थिसिस' के संघर्ष से जो राम के मन में चल रहा है —शिवोपासक

रावण पर वह तब तक विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा जब तक शिवाशीष उसे भी प्राप्त नहीं हो जाता, शक्ति में वे समान नहीं हो जाते। उपासना के लिए यज्ञ हो। यज्ञ के लिए चाहिए सीता। सीता है लंका में। फिर उपासना कैसे पूरी हो ? रावण-विजय कैसे हो ? क्या सीता फिर नहीं मिल पाएगी ? और राम एक गंभीर विषाद से भर उठते हैं। यह विचार नहीं है—विषाद की एक ऐसी गंभीर अनुभूति है, कटु अनुभूति है, निर्मम अनुभूति है जो 'एंटी थिसिस' से ही उपज सकती है। दूसरी बात, इस एकांकी में एक घटना होती है (कार्य)—रावण सीता को लेकर राम के पास आता है ताकि राम का अनुष्ठान पूरा हो सके लेकिन सीता लक्ष्मण के हृदय के सत्य को सह नहीं पाती और अंतर्धान हो जाती है, विलीन हो जाती है। इस घटना की व्याख्या भी नाटककार स्वयं करता है : सीता इसलिए विलीन हो जाती है कि—(क) सुबह होने वाली है और माया सृष्टि अंधकार की अवधि में ही जीवित रहती है। (ख) लक्ष्मण का 'भाव' सत्य है और सीता असत्य। सत्य की असत्य पर विजय होती है। असत्य भाग जाता है। (ग) राम-लक्ष्मण वास्तविकता है, यथार्थ। सीता छद्म है, माया है, कल्पना। वास्तविकता के स्पर्श से छल का, कल्पना का तिरोहित होना भी एक सत्य है। (घ) एक संवाद उद्धृत करता हूं—

"लक्ष्मण : आर्य मैं इस जानकी को नहीं देखना चाहता ! हे ईश्वर मेरी आंखें···।

राम : शांत···शांत लक्ष्मण। प्रातःकाल होने में अब विलंब नहीं। सत्य देखने के लिए पुरुष को अनेक असत्य देखने पड़ते हैं। इसे बुद्धि से ग्रहण करो लक्ष्मण !

लक्ष्मण : बुद्धि से देखूं ? जिस जानकी को श्रद्धा से देखता आया था उसे···।"

एकांकी में प्रस्तुत घटना की व्याख्या यह संवाद अपने आपमें है—जिसकी स्वतंत्र व्याख्या की जा सकती है, पर घटना की व्याख्या रचयिता स्वयं करता है। तीसरी बात, इस एकांकी के बहुरूपी तत्त्व के इसी में निहित होने की है। इस एकांकी की जितनी सैद्धांतिक व्याख्याएं हो सकती हैं, जितनी पृथक-प्रस्तुतियों में रंगमंच से—'दृश्य' होकर उभरने वाली व्याख्याएं हो सकती हैं, वह सब मिलकर इस नाटक के बहुरूपी तत्त्व की ही प्रतिष्ठा करती हैं। हर नई व्याख्या के साथ—चाहे वह प्रस्तुतिगत संदर्भ से जुड़ी हो, चाहे काव्यालोचन-संदर्भ से; एकांकी के एक नए रूप को उभारता है। एक छोटी-सी कृति में इतनी संभावनाओं की मौजूदगी से यही सिद्ध किया जा सकता है कि कई अर्थों में पूर्णांकी नाटकों से ये एकांकी अधिक श्रेष्ठ हैं। मानना पड़ता है कि डा० लाल ने अपने एकांकियों के अभिनव प्रयोग से हिंदी एकांकी को एक भयानक जड़ता से मुक्ति दिलाई। हिंदी रंगमंच जो भारतेंदु युग के बाद एक बार फिर से नाटक और जीवन दोनों से ही कट गया था उसे एक बार फिर से एक दूसरे से संबद्ध करने की एक जिम्मेवार-कोशिश डा० लाल की ओर से की गई। नाटक और जीवन को रंगमंच से जोड़ने की जिम्मेवारी तब हर आधुनिक नाटककार की जिम्मेवारी थी और

इसके लिए आवश्यक था कि नाटककार
अनुभव करे, स्वायत्त अनुभवों खंडों से
एक लचीले सेतु से जुड़े हों। उसके
व्यापक हों कि वह सहज ही
प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि,
दे। तभी नए रंगमंच का उदय हो
योगदान रहा है। नाट्य रचना
देख/पढ़कर सराह दें—इसके
सामान्य की—आवश्यकता से
तैयार नहीं किए जाते—वे नाटक
नाट्य कभी पुस्तकों में लिखे-छपे
क्योंकि वे सीधे लोक-जीवन
कृतियों का धरातल सदैव
जितनी होगी वह उतनी ही
ने एक नाटककार के रूप में
भोगा है। इसलिए इनके
व्यक्ति मिल सकी है। नाटक
से दुहराव खोजकर नहीं
व्याख्याएं भिन्न हैं, दृष्टि
लिए, 'यक्ष प्रश्न' संग्रह में
'उत्तर युद्ध' को देखा
वनवास की अवधि से
ग्रुप' को यह एक ही 'रंग
रूपों को सतही तौर पर
लेकिन शिल्प के धरातल
जोड़ता है, जबकि 'यक्ष
विश्लेषण करता दिखा
भर देता है/सीधे
नाट्यों को अलग
प्रदान करते हैं।
कृतियों में अंतस्
'स्थायी-अंतरा' के
के प्रयोग के का
नहीं हो जाती।
हो जाने से ही

इसके लिए आवश्यक था कि नाटककार खुद भी उसी राग-रंग में डूब जाए, आत्मीयता अनुभव करे, स्वायत्त अनुभवों खंडों से गुजरकर वह उन राहों का अन्वेषण करे जो एक लचीले सेतु से जुड़े हों। उसके नाटकों में रंग-संभावनाएं इतनी गहरी हों, इतनी व्यापक हों कि वह सहज ही सबका, समाज का रंगमंच बन जाए और समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि, आकांक्षा, अपेक्षा और आवश्यकताओं को प्रतिनिधित्व दे। तभी नए रंगमंच का उदय हो सकता था। डा० लाल का इस दृष्टि से अपना योगदान रहा है। नाट्य रचना की सार्थकता इसमें नहीं कि दो-चार बुद्धिजीवी उसे देख/पढ़कर सराह दें—इसके विपरीत श्रेष्ठ नाट्य-कृतियां आम आदमी की, लोक-सामान्य की—आवश्यकता से उत्पन्न होती हैं। इस बात का ख्याल रखकर जो नाटक तैयार नहीं किए जाते—वे नाटक कभी किताब के पन्नों से बाहर नहीं आ पाते। लोक-नाट्य कभी पुस्तकों में लिखे-छपे नहीं रहे पर उनकी परंपराएं शताब्दियों तक चली हैं, क्योंकि वे सीधे लोक-जीवन से संबद्ध रहे। इसलिए हमारी राय में स्थायी नाट्य कृतियों का धरातल सदैव साधारण-दर्शक रहता है। इससे इतर संभावनाएं उसमें जितनी होंगी वह उतनी ही उत्कृष्ट कोटि का काव्य स्वीकार किया जाएगा। डा० लाल ने एक नाटककार के रूप में अपनी इस भूमिका को जाना-पहचाना और जिया-भोगा है। इसलिए इनके एकांकियों में जीवन के विविध रूपों को स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिल सकी है। नाटक-बहुरंगी-बहुरूपी के तेईस एकांकियों में कहीं भी इस दृष्टि से दुहराव खोजकर नहीं निकाला जा सकता। जहां संदर्भ एक धरातल के हैं वहां व्याख्याएं भिन्न हैं, दृष्टिकोण भिन्न है, उसकी मूल संवेदना भिन्न है। उदाहरण के लिए, 'यक्ष प्रश्न' संग्रह में संगृहीत डा० लाल के दोनों लघुनाट्य 'यक्ष प्रश्न' और 'उत्तर युद्ध' को देखा जा सकता है। दोनों ही लघु नाट्यों की पृष्ठभूमि पांडवों के वनवास की अवधि से जुड़ी है, इसलिए इन लघुनाट्यों के प्रथम नाट्य-प्रयोक्ता 'नान ग्रुप' को यह एक ही 'रंग राग' का 'स्थायी-अंतरा' प्रतीत हुआ और इन दोनों ही नाट्य-रूपों को सतही तौर पर देखने से किसी भी व्यक्ति को यह भ्रम हो भी सकता है। लेकिन शिल्प के धरातल पर 'उत्तर युद्ध' का 'विदूषक' अतीत को सीधे वर्तमान से जोड़ता है, जबकि 'यक्ष प्रश्न' का 'प्रश्न-यक्ष' अतीत का वर्तमान के संदर्भ में प्रतीकात्मक विश्लेषण करता दिखलाया जा सकता है जो अतीत के माध्यम से वर्तमान का आभास भर देता है/सीधे वर्तमान से जुड़ता नहीं। 'विदूषक' और 'प्रश्न-यक्ष' दोनों लघु नाट्यों को अलग परिवेश और अलग धरातल से जोड़ते हैं और उन्हें पृथक स्वायत्तता प्रदान करते हैं। इसलिए पांडवों की कथा और वनवास की पृष्ठभूमि से जोड़कर दोनों कृतियों में अंतस्सूत्र भले ही खोज लिया जाए पर दोनों को एक ही 'रंग राग' के 'स्थायी-अंतरा' के रूप में स्वीकार करना विचारणीय हो उठता है क्योंकि समान 'स्वरों' के प्रयोग के कारण ही 'राग-भूपाली' और 'राग देशकार' की पृथक स्वायत्तता समाप्त नहीं हो जाती। दोनों रागों का स्वर-समूह एक है लेकिन परिवेश और धरातल भिन्न हो जाने से ही दोनों दो रचनाएं हो जाती हैं। हमारी राय में इसलिए यह दोनों नाट्य

रूप स्वरूपगत साम्य रखकर भी उक्त आधारों पर भिन्नता और स्वायत्तता रखते हैं और इस विश्लेषण से यही निरूपित करना हमारा इष्ट था कि नाटककार द्वारा नाट्य-संरचना के शिल्प के धरातल पर प्रयुक्त यह भी एक 'बहुरूपी तत्त्व' है जो एक ओर तो सतही तौर पर यक्षप्रश्न को एक संपूर्ण कृति का रूप (भ्रमात्मक ही सही) देता है और दूसरी ओर उन्हें पृथक 'रूपों' में स्वायत्तता भी प्रदान करता है। नाटककार के 'बहुरूपी' संग्रह के 'गुड़िया' से लेकर 'गदर' तक—सबके सब अपने भीतर आधुनिक जन-जीवन के किसी जीवंत पहलू को समेटे हुए हैं। 'वरुण वृक्ष का देवता' और 'रावण' यद्यपि इतिहास-पुराण पर आधारित एकांकी हैं तथापि इनमें जीवन की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। रचयिता, रचना के क्षणों में केवल अनुभव होता है। इसलिए विभिन्न विषय क्षेत्रों से प्राप्त अनुभवों में वह विषय-क्षेत्र के आधार पर भेद नहीं कर पाता। सारे अनुभव उसके अनुभव बन जाते हैं. इसलिए जमादार के जूते की चोट औलादी के बेटे को भी उतनी ही लगती है जितनी खुद नाटककार को, इसलिए 'गुड़िया' के सहारे विवशताओं को भोगने की वेदना नाटककार की भी उतनी ही गहरी अनुभूति बन जाती है जितनी मनोरमा के 'दद्दा' की। इन अनुभवों की विविधता से जहां विविध नाट्यों के द्वारा नाटककार 'बहुरूपी' अभिव्यक्ति करता है वहीं 'अनुभवों' को भी रूपगत वैविध्य प्रदान करता है। अनुभवों का यह रूपगत वैविध्य शैली के धरातल पर भी उतना ही स्पष्ट है जितना शिल्प के धरातल पर। एक सिरे पर 'शरणागत' है, दूसरे सिरे पर 'बंगाल का जादू'; एक सिरे पर 'गुड़िया' है दूसरे सिरे पर 'वसंत ऋतु का नाटक'। इन सिरों को जोड़ने की कोशिश में यह रूपगत विभिन्नता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। 'गुड़िया' एक दुर्घटनाग्रस्त साधारण गृहस्थ परिवार के जीवन की उन विसंगतियों का दारुण चित्र है जो अक्सर मानवीय-मूल्यों के धरातल पर दूसरों को नहीं समझ पाने के अमानवीय-अहम् से तैयार होता है, तो 'वसंत ऋतु का नाटक' दुहरे-अभिनय के शिल्प से जुड़ी एक लचीले शिल्प की कृति है, जहां परिस्थितियों के साथ दर्शक का समझौता कराया जाता है; नाटक के असली प्रेरक चरित्र—दर्शकों से आकर शेष कथा कहने का 'नाटक' करते हैं और अभिनेताओं-रंगकर्मियों के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करते हैं—जबकि दरअसल इसी भूमिका के लिए तैयार किए गए वे भी चरित्र ही होते हैं। लेकिन वे दर्शकों के बीच से उठकर आते हैं तो दर्शकों के उस भ्रम की पुष्टि ही करते हैं जिसकी स्वीकृति के साथ हर दर्शक नाटक देखने कहीं जाता है। दोनों ही एकांकी शिल्प के धरातल पर दो छोरों पर स्थित हैं—पहली एकदम सीधी-सादी रचना है, सपाट, और इसमें नाटककार के 'एंटी थिसिस' की गहराई काफी अधिक है तो दूसरी कृति में यह गहराई हल्की होकर शिल्पगत-वैभिन्न्य और प्रयोग में अभिव्यक्त होती है। यानी हर रचना कहीं न कहीं, किसी न किसी बिंदु पर अपना रूपगत वैभिन्न्य और अस्तित्व बनाए रखती है, संग्रह की एकांकियों का एक यह भी 'बहुरूपी तत्त्व' है।

हर नाटककार की कल्पना में उसका एक अपना रंगमंच होता है। अपने उसी

काल्पनिक रंगमंच के प्रत्ययों के आधा
है। जिसने रंगमंच को जितना जिया
उसकी कृति में, उन्हीं रूप-रंगों में स
उसके नाटकों का रंग-धर्म बन जाता
किन रूपों में जुड़े रहे—यहां उस स
अपने रूप-रंग में उजागर हैं, मुख
वर्तमान के वस्तुपरक-तथ्यों और स
पैठना, उन्हें जीना और खुद भोगना
को मंच की कुर्सी पर रख देने-भर
पढ़ने के लिए नहीं नाटक को हो
कार की रंगमंच से संबद्ध उसकी
सत्य से, जुड़ती है। डा० लाल
समन्वय की यात्रा से प्रारंभ हो
अश्व ही सारथी, सारथी ही
रहा है। वही भीड़ है, दर्शक—
और रास्ते में जो उसे देख-सु
रंगमंच···चाहे वही दर्श
इससे नाटककार की उस
का उद्गम वर्तमान की
प्रक्रिया से नाटककार
दरवाजा' में संगृहीत डॉ०
करते हैं। नाटककार स
स्त्री दर्शक होते हैं, युव
कहां ? हर नाटक पुरुषों
है। नाटककारों ने कभी
रंगकर्मियों के अभाव
लेकिन उनको उनकी
बात कब सोची गई।
अवलंब लेकर 'केवल
दारी दी। अब तक
बन जाने में उन्हें
आनी चाहिए। यु
युवकों-पुरुषों की
मूल्य हो सकता
भी स्वीकार करें

काल्पनिक रंगमंच के प्रत्ययों के आधार पर वह अपने नाट्यरूपों का प्रणयन करता है। जिसने रंगमंच को जितना जिया है, जितने रूपों में भोगा है—उसका वह अनुभव उसकी कृति में, उन्हीं रूप-रंगों में सजकर, मंजकर, अभिव्यक्ति पाता है। यही संस्कार उसके नाटकों का रंग-धर्म बन जाता है। डा० लाल रंगमंच से कहां तक, कितने गहरे, किन रूपों में जुड़े रहे—यहां उस सबका विवरण अनावश्यक है, उनकी रचनाएं खुद अपने रूप-रंग में उजागर हैं, मुखर। आज नाटक लिखने का मतलब हो गया है वर्तमान के वस्तुपरक-तथ्यों और साक्षात जीवन-संदर्भों से जुड़ना, उनकी गहराइयों में पैठना, उन्हें जीना और खुद भोगना। आज नाटककार का दायित्व नाटक की किताब को मंच की कुर्सी पर रख देने-भर से समाप्त नहीं हो जाता, मंच नाटक की किताब पढ़ने के लिए नहीं नाटक को होता हुआ देखने के लिए बना होता है। प्रत्येक नाटककार की रंगमंच से संबद्ध उसकी कल्पना--यहां आकर वास्तविकता से, रंगमंच के रंग-सत्य से, जुड़ती है। डा० लाल की 'अपना की रंगमंच' कल्पना सहजता और कठोरता के समन्वय की यात्रा से प्रारंभ होती है—"इस यात्रा में रथ ही यात्रा है, रथ ही अश्व है, अश्व ही सारथी, सारथी ही रथ में बैठा है (सवार)। वही चल रहा है, वही चला रहा है। वही भीड़ है, दर्शक—रसरंजक समाज, जो रथ में है और रथ के बाहर—दोनों ओर रास्ते में जो उसे देख-सुन रहा है—वही मैं हूं—चाहे मुझे नाटककार कहिए चाहे रंगमंच···चाहे वही दर्शक" (दूसरा दरवाजा, भूमिका 'मेरा अपना रंगमंच')। इससे नाटककार की उस रंग-दृष्टि का परिचय मिलता है जो एक ओर तो रंग-चेतना का उद्गम वर्तमान की प्रेरणा से जोड़कर देखता है और दूसरी ओर संपूर्ण रंग-प्रक्रिया से नाटककार और दर्शक की भागीदारी जोड़कर देखता है। 'दूसरा दरवाजा' में संगृहीत डॉ० लाल के सातों रंग-एकांकी उनकी इसी रंग-दृष्टि की पुष्टि करते हैं। नाटककार सबसे पहले पूरी रंग-प्रक्रिया में युवतियों को भागीदारी देता है। स्त्री दर्शक होते हैं, युवतियों में भी खेलने की ललक होती है लेकिन उनके लिए नाटक कहां ? हर नाटक पुरुषों—पुरुष पात्रों और पुरुष दर्शकों की अपेक्षा लेकर लिखा जाता है। नाटककारों ने कभी युवतियों-स्त्रियों की जरूरत को स्वीकार ही नहीं किया। स्त्री रंगकर्मियों के अभाव का रोना नाटककार और रंग-प्रयोक्ता एक अर्से से रोते रहे हैं लेकिन उनको उनकी जरूरत की 'चीज' देने, उनकी अपेक्षाओं के अनुकूल ढलने की बात कब सोची गई। यही 'सोच' वर्तमान है। डा० लाल ने केवल स्त्री चरित्रों का अवलंब लेकर 'केवल तुम और हम' की रचना की और स्त्रियों को रंगमंच की भागीदारी दी। अब तक पुरुष चरित्र स्त्रियों की भूमिकाएं निभाते रहे तो 'मालती' के 'हरीसिंह' बन जाने में उन्हें चौंकाने वाला अंदाज, प्रयोग और कुफ्र तोड़ने जैसी बात नजर नहीं आनी चाहिए। युवतियों-स्त्रियों की साझेदारी भी रंगमंच में उतनी ही है जितनी युवकों-पुरुषों की। नाट्य-प्रयोगों की व्याख्या में उनकी अपनी रंग-दृष्टि का भी कुछ मूल्य हो सकता है—जरूरत है उन्हें अवसर देने की, रंगमंच पर उनकी भागीदारी भी स्वीकार करने की। संग्रह का दूसरा एकांकी 'दूसरा दरवाजा' वर्तमान से विषय-वस्तु

के धरातल पर जुड़ा है—बेकारी की स्थिति, बेकारी से उत्पन्न कुंठाएं, बेकारी की यंत्रणा, कुर्सी पाने के लिए दूसरे दरवाजे यानी घूस, पैरवी, रिश्तेदारी आदि का उपयोग। 'फिर बताऊंगी' दफ्तरी बाबूओं का जीता-जागता चित्र भी और दफ्तरों में पुरुषों के साथ काम करने वाली महिलाओं की समस्याओं का निरूपण भी। 'धीरे बहो गंगा' नारों के व्यंग्य से, 'हाथी घोड़ा चूहा' दफ्तरी साहबों के भीतर मौजूद 'पशुता' के कीटाणु के अन्वेषण से जुड़ा है। 'कॉफी हाउस में इंतजार' वस्तुतः वर्तमान के संदर्भ में राजनीति का आत्म-विश्लेषण है। स्पष्टतः हर एकांकी जीवन और जगत के किसी न किसी ऐसे धरातल पर टिका है जहां 'जीवन' की 'जीवंतता' समाप्त होने को है—नाटककार की छुअन उनमें 'नवजीवन' का संचार कर देती है। यह एक सहृदय-भावक-रचनाकार के स्पर्श की जादुई छुअन नहीं है, उसकी अपनी जीवनी शक्ति है जो औरों को भी जिलाती है, यही घटनाओं के भीतर पैठकर उसकी आत्मा की खोज और उसके साथ तादात्म अनुभव करने की वह स्थिति जहां-जहां नाटककार में एक साथ रंगमंच, नाटक, रचयिता और दर्शक—सबकी अनुभूतियां आत्मसात होती हैं। सममामयिकता से कटकर कोई भी कृति जीवंत नहीं बन सकती। डा० लाल के सभी एकांकी कहीं न कहीं सममामयिकता को स्पर्श कर ही खड़े होते हैं। अगर डा० लाल के ये सारे एकांकी रचना के क्षणों से अब तक, लगभग बीस वर्षों से लगातार खेले और खिलाए जा रहे हैं तो एक ही कारण नजर आता है कि इन कृतियों में अपनी रचनात्मक सशक्तता है जो शिल्प और शैली के धरातल पर पारंपरिक नाट्य-शैलियों और रूपों से स्वायत्त किए गए हैं और जो सीधे किसी वर्तमान से भी जुड़े हैं। इसलिए इनमें सममामयिकता भी है और लोकनाट्यों का लचीलापन भी, इसलिए ये परिष्कृत पारंपरिक शिल्प के नमूने भी हैं और शैली-शिल्प के नए प्रयोग भी। इन एकांकियों का पारंपरिक नाट्य शिल्प जो न जाने कब से दर्शकों में पचा हुआ है—नाटकों के साथ उनका अपनत्व जोड़ता है, और इनमें शैली-शिल्प के अभिनव प्रयोग कृति के प्रति उनका आकर्षण। इसलिए रचयिता के संग्रह बहुरूपी-बहुरंगी एकांकियों की इंद्रधनुषी आभा से मंडित लगते हैं।

डा० लाल के नवीनतम लघु नाट्य 'उत्तर युद्ध' और 'यक्ष प्रश्न' हैं। शैली, शिल्प और कथ्य—तीनों ही धरातल पर रंगमंच को नाटक और दर्शक से जोड़ने की एक सार्थक कोशिश। रामायण और महाभारत के प्रसंग हमारे यहां लोकनाट्यों के उपजीव्य रहे और इनकी लंबी परंपराएं रही हैं। दोनों ही लघु नाट्यों के लिए अखाड़ा-रंगमंच (एरिना-थियेटर) या 'खुले रंगमंच' की संभावना इसी संदर्भ में स्वीकृत की गई लगती है—वैसे इस शिल्प के अभियोजन से कृति को एक दूसरी अर्थवत्ता भी मिली है कि हर नाट्य-प्रयोक्ता को उसकी अपनी व्याख्या प्रस्तुत करने की आजादी देता है। तब ये लघु नाट्य अपने हर नए प्रदर्शन में एक नई व्याख्या प्रस्तुत करने की संभावना रखते हैं और इस अर्थ में नाट्य-प्रेमी दर्शकों के लिए नया आकर्षण। दोनों ही लघु नाट्य महाभारत की, पांडवों के वनवास की पृष्ठभूमि लिए हैं जो कथ्य के, विषय के धरातल पर उन आम आदमी के लिए रुचि और आकर्षण उत्पन्न करते हैं जो प्रकृति

से धर्मभीरु हैं, बुद्धिजीवियों (दो-
क्योंकि उनके विचार के लिए ब
कुछ नई व्याख्याएं उत्तर युद्ध में
ही लघु नाट्य एक व्यापक दर्श
का आकर्षण इस अर्थ में प्रदान
को सहर्ष स्वीकार करेगा। सम
'उत्तर युद्ध' में मुखर है, यहां द्रौ
युग में कुशासन ने (दुःशासन ने
का चीरहरण किया था तो इस
के रूप में दिया था—'उत्तर
द्वारा आज भी न जाने कितने
दर्शक/पाठक/पांडव स्थिति की
सोचते ही रह जाते हैं, कुछ क
हर युग में हुआ है—कुशासन
हुआ ? अन्याय और अत्याचा
है ? तो, आज होता है (स
सोचे अधिक जाते हैं और
के लिए सक्रिय उद्योग कम
हैं और गाहे-बगाहे नारे भी
उपलब्धि विहीन। वर्तमान
देता है, जब वह दर्शकों को
सीधे वर्तमान से जोड़ देता
प्रयोग, दर्शक और मंच
कुछ और है जो एक स
भी। पांडवों के निष्क्रिय
ही इसकी समाप्ति होती
देता है, व्यंजनाएं तो
परिवेश से। पांडवों का
जगह पर द्रौपदी की
और बहसों और भाष
का, विरोध कर अपने
सोचना पड़ता है कि
अतीत का होकर भी
बहुरंगी।

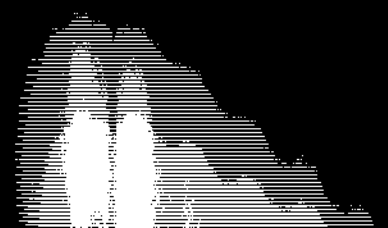

से धर्मभीरु हैं, बुद्धिजीवियों (दो-चार-दस-बीस ही सही) को भी निराशा नहीं होगी क्योंकि उनके विचार के लिए बहुत सारे प्रश्न 'यक्ष-प्रश्न' में हैं, उनके लिए जीवन की कुछ नई व्याख्याएं उत्तर युद्ध में हैं। इस प्रकार 'यक्ष-प्रश्न' और 'उत्तर युद्ध' दोनों ही लघु नाट्य एक व्यापक दर्शक वर्ग को अपनाकर सामने आता है और रंग-प्रयोक्ता का आकर्षण इस अर्थ में प्रदान करता है फिर प्रत्येक नाट्य-प्रयोक्ता प्रयोग की आजादी को सहर्ष स्वीकार करेगा। सममामयिकता के प्रति रचयिता की सजगता सर्वाधिक 'उत्तर युद्ध' में मुखर है, यहां द्रौपदी की चीख वर्तमान में भी सुनाई पड़ती है। महाभारत युग में कुशासन ने (दुःशासन ने) पांडवों की लज्जा को अनावृत कर दिया था, द्रौपदी का चीरहरण किया था तो इसका उत्तर पांडवों ने संगठित होकर, शक्ति संचय कर युद्ध के रूप में दिया था—'उत्तर युद्ध'। यही बात आज भी हो रही है, कुशासन (दुःशासन) द्वारा आज भी न जाने कितने पांडवों की द्रौपदी का चीरहरण होता है पर आज का दर्शक/पाठक/पांडव स्थिति की गंभीरता पर, और क्या करना चाहिए, इस पर सोचते ही रह जाते हैं, कुछ कर पाते नहीं, कुछ करते भी नहीं। द्रौपदी का चीरहरण हर युग में हुआ है—कुशासन-दुःशासन हर युग की नियति रही है पर युद्ध कब-कब हुआ ? अन्याय और अत्याचार का विरोध कब-कब हुआ ? आखिर आज होता क्या है ? तो, आज होता है (समय के प्रश्नों का) उत्तर युद्ध। आज सवालों के जवाब सोचे अधिक जाते हैं और दुःशासन या कुशासन के अंत की दिशा में, स्थाई समाधान के लिए सक्रिय उद्योग कम किया जाता है। क्रांति और संघर्ष की बातें काफी की जाती हैं और गाहे-बगाहे नारे भी जोर-शोर से लगते हैं, पर कुल निष्कर्ष शून्य आता है, उपलब्धि विहीन। वर्तमान के इस निष्क्रिय चिंतन को विद्रूपक और अधिक चिन्त्य बना देता है, जब वह दर्शकों की पांत से उठकर मंच पर जाता है और नाटक के अतीत को सीधे वर्तमान से जोड़ देता है, नाटककार का यह प्रयोग लोक-नाट्य की शैली का एक प्रयोग, दर्शक और मंच की खाई को पाटने का एक रंग-कौशल होने के अलावा भी कुछ और है जो एक सार्थक चिंतन की परिणति है और एक सार्थक चिंतन का प्रारंभ भी। पांडवों के निष्क्रिय मौन से नाटक शुरू होता है और पांडवों के निष्क्रिय मौन में ही इसकी समाप्ति होती है—यह निष्क्रिय मौन 'दृश्य' होकर मंच पर गंभीर व्यंजनाएं देता है, व्यंजनाएं तो किताब के पन्नों से नहीं निकलतीं, जो निकलती हैं अपने सार्थक परिवेश से। पांडवों का यह निष्क्रिय मौन दृश्य होकर उन्हें, हमें, आपको, सबको, अपनी जगह पर द्रौपदी की तरह नंगा कर जाता है, हम सब जो-जो लंबी बहसों में जीते हैं और बहसों और भाषणों के द्वारा ही अन्याय एवं अत्याचार का, कुशासन और दुःशासन का, विरोध कर अपने संघर्ष, अपनी क्रांति की सार्थकता और इयत्ता समझते हैं। सोचना पड़ता है कि नाटककार कहां पांडवों के साथ है और कहां दर्शकों के साथ। या अतीत का होकर भी वर्तमान में। सर्वत्र नया रूप, नई भंगिमा, नया रंग। बहुरूपी : बहुरंगी।

नाट्य भाषा और संवाद

डा० गोविंद चातक

लक्ष्मीनारायण लाल उस नाट्यश्रेणी में आते हैं जिन्होंने आधुनिक हिंदी नाटक को उसकी सही भाषा दी है। यह एक जानी-मानी सचाई है कि हमारे यहां प्रसाद तक आते-आते नाटकों की भाषा एक सांचे में ढल चुकी थी और नाटककार के पास भाषा के नाम पर एक ऐसी शब्द-योजना मात्र रह गई थी जो इतिहास और प्राचीन काव्यग्रंथों की देन थी। प्रसाद के बाद हिंदी नाटक में चाहे एकदम कोई बहुत बड़ी घटना तो नहीं हुई, पर कालांतर में नई कहानी, नई कविता जैसे आंदोलनों की पृष्ठभूमि में जिस तरह साहित्य का कथ्य बदला, वैसे ही भाषा की भंगिमाएं भी बदलीं। तब नए नाटककारों ने भी, जो प्रकारांतर से अन्य विधाओं में होने वाले परिवर्तनों से भी संबद्ध थे, भाषा को प्रयोग के स्तर पर एक सर्जनात्मक उपलब्धि के रूप में लिया। उस उपलब्धि का एक स्वरूप राकेश के नाटकों में मिलता है और दूसरा लाल के नाटकों में। वस्तुतः दोनों दो भिन्न आयामों को उजागर करते हैं। लाल की विशेषता इस बात में है कि वे जगदीश चंद्र माथुर, उपेंद्रनाथ अश्क आदि की भाषिक चेतना को लेकर शुरुआत करते हैं और प्रयोग करते-करते लोक तत्त्व से लेकर 'ऐब्सर्ड' तक की यात्रा करते हुए सब स्थितियों को पार कर जाते हैं।

नाटक के साथ भाषा को रचने का प्रयास लाल के नाटकों में—प्रायः सभी में दो-एक को छोड़कर—बहुत प्रमुख रूप से सामने आता है। भाषा की एक प्रकार की रचना वे 'सगुन पंछी' (नाटक तोता मैना का नया स्वरूप-सांगीतिक) में करते हैं जहां शुद्ध लोक-तत्त्व, रंग तत्त्व मुखर हो उठता है: 'ओहो स्त्री जाति!/क्या कहने भाई क्या कहने/त्रिया चरित्र जाने नहिं कोउ/खसम मारि के सत्ती होय।' 'जन और मन का थेटर' उभारने के लिए लाल लोक तत्त्व का और विकसित प्रयोग 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में कर दिखाते हैं। इन नाटकों में वे लोक की शब्दावली और वाक्-पद्धति का प्रयोग कर भाषा पर भावना का ऐसा रंग चढ़ा देते हैं कि अर्थ की परंपरागत छवियां उजागर होने लगती हैं। रंगा और पुरोहित की भाषा में लोक तत्त्व भी हैं और आंचलिकता भी: 'सो ऐसो भयो कि माता कि माता लीलावती के वचन सुनकर कन्या कलावती बिना प्रसाद पाये ही पति सूं मिलन कूं चल दी। तो फिर या

को मतलब क्या भयो ? सत्यनारायण के प्रसाद की अवहेलना करन के कारन सत्य-नारायण भगवान रुष्ट होइ गए···।' लोकतत्त्व को उभारने के लिए लाल लोकगीतों का अधिकाधिक प्रयोग करते हैं। इनमें 'अक्कड़ बक्कड़ बंबे बो' से लेकर 'कोठे पर ताड़ी नार झूमका सोने को' तक या इससे भी आगे फिल्मों में अत्यंत लोकप्रियता प्राप्त करने वाले लोकगीत 'नजर लागी राजा तोरे बंगले में' तक सबकी अपनी-अपनी रंगत है।

और जहां तक आंचलिकता का सवाल है, लाल भोजपुरी, अवधी, ब्रज की लोकधुनों और गीतों का प्रयोग तो करते ही हैं, साथ ही 'दर्पन' में नेपाली, 'सूर्यमुख' में ब्रज के गद्य की छटा भी प्रस्तुत करते हैं। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' आंचलिक भाषा-प्रयोग का विशिष्ट उदाहरण है; किंतु कई दृष्टियों से पहले और दूसरे पहरेदार के मुख से 'सूर्यमुख' में जिस भाषा की अवतारणा हुई है, वह आंचलिक ही नहीं नाटकीय भी है :

पहला : हम के बदे इहां पहरा दै रहे हैं ?

दूसरा : अरे मालिक परेम बदे। राजा करे परेम, परजा पहरा दे।

पहला : हम कोई परजा हैं। हम भी तो यदुवंशी हैं। नाहीं गए महाभारत लड़ने तो का भवा ?

दूसरा : वही शिखंडी वाला महाभारत ? सच हम महाभारत लड़न गए होते तो शिखंडी से ब्याह कै लेते।

इसी प्रकार 'दर्पन' में पूर्वी और हरिपदम के बीच नेपाली गीत की कुछ कड़ियां, एकाध 'दिले लाज लागू छू' जैसे संवाद और बार-बार दुहराया गया 'दिले' संबोधन अपना एक निश्चित प्रभाव छोड़ते हैं।

लाल के नाटकों में भाषा का एक और सर्जनात्मक स्वरूप है जो एक निश्चित प्रभाव को पैदा करने के लिए पारसी नाटकों से गृहीत है। उन्होंने पारसी रंगमंच का जो अध्ययन किया है उसका लाभ उन्होंने 'एक सत्य हरिश्चंद्र' और 'नरसिंह कथा' की संवाद-योजना में पूरी तरह उठाया है। जिन पारसी रंगमंच शैली के तुकांत संवादों' पर हिंदी का आलोचक-वर्ग नाक-भौं सिकोड़ता रहा है, उनसे ही लक्ष्मीनारायण लाल ने आश्चर्यजनक संवेदना पैदा की है। ये संवाद 'नरसिंह कथा' में विदूषक के मुंह से हास्य की सृष्टि करते हैं और 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में शैव्या के मुंह में आकर करुणा जगाते हैं। एक उदाहरण लीजिए : 'आधी साड़ी तो सुत के कफन में लगी, आधी साड़ी से अपना ढके हूं तन। जिससे कट जाय दोनों की विपदा, पुरुष आप ही दें बता अब करूं क्या जतन ? फूल गंगा में बह जाय मेरे प्रभू, हो पड़े आपका भी न झूठा परन।' कोई कह सकता है कि यह पारसी नाटकों की भाषा है। पर यदि कोई इसे सर्जनात्मक स्तर पर उठाए तो हम कहते हैं कि यह लक्ष्मीनारायण लाल के मिथक नाटकों की भाषा क्यों नहीं हो सकती ? सचाई यह है कि इन दो नाटकों में भाषा की यह गठन है और है ही नहीं, खूब फबती है।

इन दो नाटकों के अतिरिक्त 'यक्ष प्रश्न' और 'कलंकी' का वातावरण भी मिथकीय है; किंतु उनमें एक नया भाषिक प्रयोग नजर आता है। 'यक्ष प्रश्न' की भाषिक और नाटकीय क्षमता विदूषक की आधुनिक संवेदना में है और 'कलंकी' में तो मिथकीय वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए पुरा-बिंबों, ध्वनियों और वाक्यों का ऐसा प्रयोग हुआ है कि उसमें भाषिक सर्जना में अतिप्राकृतिक तत्त्व की सहज सिद्धि हुई है। जरा के अस्पष्ट, अस्फुट, अप्रकट, अर्द्ध प्रकट संवाद एक अपनी ही भाषा गढ़ते हैं। वे चाहे 'हे हेउ हिं कि' जैसे मंत्रपूत ध्वनियां हों, चाहे या अबधूत के शब्द, या कृपकों का उद्‌घोष—'सर्वभूत संसार निवासी/आपु हि खसम आपु सुखवासी/कहियत मोहि भइल जुगचारी/काके आगे कहौं पुकारी'—सबमें भाषा की एक अतिप्राकृतिक गठन है। तंत्र शब्दावली जिस प्रकार 'कलंकी' की भाषा का रूप रचती है, उसी प्रकार 'अब्दुल्ला दीवाना' और 'व्यक्तिगत' (और कुछ-कुछ 'करफ्यू' में भी) समसामयिक जीवन की अभिव्यक्तियां भाषा को कहीं-कहीं विसंगतिवादी (ऐब्सर्डिस्ट) तेवर दे देती हैं। भाषा को विसंगतिवादियों के सर्जनात्मक स्तर पर पहुंचाना सरल काम नहीं है; लाल ने प्रयास किया है, यही कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है।

संयोग से लाल कवि नहीं हैं। फिर भी काव्यात्मक संवेदना का उपयोग करने की तीव्र इच्छा उनमें दिखाई देती है। 'कलंकी' की भूमिका में उन्होंने साफ कहा है : 'समस्या प्रधान नाटक की तरह इसके संवाद न वादविवादी ही ढंग के हैं, न तर्कमूलक प्रकार के। इसका मूल प्राण है कलंकी का काव्य बिंब।'''ठीक कविता की ही तरह इसके अंतर्तम में एक केंद्रीय भाव है। यही केंद्रीय भाव इसके परिवेश में, भाषा में, संगीत में, पूरे अस्तित्व में है।' वस्तुतः नाटक का 'काव्य' केवल भाषा की देन नहीं होता। लाल अन्य उपादानों के प्रति सजग दिखाई देते हैं, पर शब्द वाक्य, लयात्मकता लोकगीत, तुकांत और छंदोबद्ध संवादों के माध्यम से वे भाषा में एक प्रकार की सघनता लाने की जरूर कोशिश करते दिखाई देते हैं। कहीं वे लोकनाटकों की शैली पर गीतों का प्रयोग करते हैं; कहीं वे पारसी रंगमंच के जीवंत गीति तत्त्व का उपयोग करते हैं; किंतु इसमें भी एक भिन्न स्तर पर वे ब्रेख्त जैसे नाटककारों की भांति कवितामूलक संवादों से अपनी भाषा को प्रभावशाली बनाने की भी कोशिश करते हैं। इस पर वे अपनी भाषा के उपादानों को कभी परंपरा से, कभी बोलचाल से, कभी काव्यात्मक संवेदना और कभी विसंगत प्रयोगों से सर्जनात्मक स्तर प्रदान करने के लिए कटिबद्ध दिखाई देते हैं। इस तरह लाल के नाटकों की भाषा संयोग की देन नहीं, एक सजग प्रयास के रूप में सामने आती है। वे भाषा पर इतने सर्जनात्मक दबावों से काम लेते हैं कि वह सामान्य नहीं रह पाती।

भाषा की बहुमुखी तलाश लाल के बाद के सभी नाटकों में मिलती है। यद्यपि नाटक के लिए विविध भाषिक रूपों को 'इवोल्व' करने में उन्हें समय लगा है, फिर भी नाट्य भाषा को साहित्य या पुस्तकों की सड़ी-गली भाषा से उबारने में उन्होंने एक लंबी यात्रा तय की है। इस यात्रा में उन्होंने लोकतत्त्व युक्त भाषा और सम-

सामयिक अभिव्यक्ति की भाषा में विशेष सिद्धि प्राप्त की है। लोकतत्त्व को इतनी सजीवता से प्रस्तुत करने वाले वे हिंदी के अकेले नाटककार हैं। इसी तरह हिंदी के नाटककारों में लाल के नाटकों में समसामयिक मूल्यों और विषमतापूर्ण स्थितियों का जितना संकट गहराता दिखाई देता है, उतना किसी और में नहीं। आधुनिक मानवीय जीवन के संकट ने जीवन के एक-एक तंतु और पारस्परिक संबंधों के एक-एक अंग को जिस तरह क्षत-विक्षत कर डाला है, उसको लाल की नाट्य भाषा बड़े सक्षम रूप से अभिव्यक्त करती है। और उस रूप में वह काफी तेज, तर्रार और पैनी है। एक तीखे औजार की तरह वह काफी मार करती है और अर्थों को घावों की तरह उधाड़ती है। 'अब्दुल्ला दीवाना' और 'नरसिंह कथा' की भाषा और संवादों में एक विचित्र तनाव है जो लाल की नाट्य भाषा को एक भिन्न आयाम देता है।

यों तो नाटक की भाषा सिर्फ शब्दों की भाषा नहीं होती। लाल ने इस तथ्य को आरंभ से ही समझा है। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में कथावस्तु, चरित्र, क्रिया-व्यापार, दृश्य विधान तथा अन्य रंग तत्त्वों के माध्यम से भी सहज संप्रेषण किया है जो शाब्दिक भाषा के परे भी कार्य करता दिखाई देता है। वे भाषा की संरचना, बिंब और प्रतीक-योजना का अर्थतत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त रंगमंच का एक मुहावरा भी उनके पास है। इसीलिए दृश्य, क्रिया, आंगिक चेष्टा, गीत, संगीत, नृत्य जो कुछ भी सार्थक रंग तत्त्व है, वे अर्थ की पूर्णता के लिए उसे तलाशते हैं। इस तलाश में वे बोलचाल की भाषा को प्रमुखता देते हैं, क्योंकि रंगमंच की दृष्टि से वह उपादेय होती है; किंतु उनकी भाषा बोलचाल के नाम पर बाजारू नहीं है, और न साहित्यिकता के नाम पर उसे संस्कृतगर्भित ही कहा जा सकता है। दरअसल कई बार लाल जानबूझकर भाषा की रूढ़ि को तोड़ने की कोशिश करते दिखाई देते हैं। वे भाषा को इस दृष्टि से रचते हैं कि उसे मंच पर पात्र के मुंह से बोला जाना है; पर जहां तक भाषा की संवेदना का प्रश्न है वे उसे कालातीत बनाना चाहते हैं। हमारे यहां ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की भाषा संस्कृतमयी होती चली गई और यथार्थवादी नाटकों की भाषा बाजारू। पर लाल ने उस परंपरा को भंग करते हुए 'नरसिंह कथा' में मिथकीय विषयवस्तु के बीच भी आधुनिक संवेदना और समसामयिक संदर्भ वाली शब्दावली का प्रयोग कर दिखाया है। उससे नाटक अतीत से वर्तमान की ओर अग्रसर होता है। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' के पौराणिक पात्र इसीलिए भाषिक स्तर पर जितने पुराने लगते हैं उतने ही आधुनिक भी। पाल जैकब ने ठीक ही लिखा है कि "इसका नाट्य जितना ही प्राचीन है, वही इसका अपना आधुनिक है।" अतीत और वर्तमान का प्रत्यावर्तन भाषा के स्तर पर एक विशद प्रभाव छोड़ता है और सबसे अच्छी बात यह है कि वह वर्षों से चली आती रूढ़ि को छिन्न-भिन्न कर डालता है।

नाटक में भाषा संवाद बनकर प्रयुक्त होती है। इसलिए उसे सबसे पहले संवाद की मांगों को पूरा करना होता है। ये मांगें कुछ तो विषय की होती हैं, कुछ

चारित्र्य की, कुछ रंग-तत्त्वों की और कुछ शिल्प की। जहां तक विषय का सवाल है लाल के नाटकों के कथ्य के अनुरूप ही उनके संवाद समसामयिक जीवन के स्वर मुखर करते हैं। 'व्यक्तिगत', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'मिस्टर अभिमन्यु' आदि नाटकों की केंद्रीय विषयवस्तु समसामयिक है, किंतु मिथकीय नाटकों तक में वे पात्र को आधुनिकता का स्तर दे डालते हैं जिससे संवादों में 'पहचान पत्र', 'तानाशाह' जैसे शब्द खटकते नहीं। 'यक्ष प्रश्न' का विदूषक इसीलिए अपने संवादों में बिल्कुल आधुनिक लगता है और द्रौपदी के चीख प्रेक्षक के—आज के प्रेक्षक के कानों को उसी तरह टकराती है जैसे 'यह चीख आज की है। अभी सुनाई पड़ रही है, अभी यहीं।'

यह समसामयिक तत्त्व ही लक्ष्मीनारायण लाल को अपने संवादों में बौद्धिक विश्लेषण का मौका देता है। उनके नाटकों के कथ्य देखते हुए कहा जा सकता है कि इतना जागरूक गहरा महत्त्वपूर्ण नाटककार हिंदी में दूसरा नहीं। 'नरसिंह कथा', 'यक्ष प्रश्न', 'एक सत्य हरिश्चंद्र' जैसे मिथक-नाटक भी सामयिक संदर्भ उभारते हैं और उनके संवाद निश्चयतः दुधारी तलवार की तरह काम करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'प्रत्येक संवाद शुद्ध संवाद है जो थप्पड़ की तरह सीधे हमारे मर्म पर लगते हैं।' और उन नाटकों में समसामयिक जीवन का बौद्धिक विश्लेषण करने की दृष्टि से रचे ही गए हैं उनमें तो नाटक का सारा विस्तार संवादों के द्वारा ही होता है। 'व्यक्तिगत', 'करफ्यू' और 'अब्दुल्ला दीवाना' इसी कोटि के नाटक हैं।

जागरूक बौद्धिकता संवादों में सूक्तियों को जन्म देती है। लाल कई बार दार्शनिक की मुद्रा धारण कर लेते हैं; अक्सर वे भाव की, विचार की, व्यवहार की खाल उतारने लगते हैं और तब उनकी सार-ग्राहिणी प्रतिभा अपने को सूक्ति, वाग्मिता, विदग्धता के द्वारा व्यक्त करने लग जाती है। स्त्री, पुरुष, सत्ता, राज्य, शक्ति, समय, जीवन, प्रेम, ईश्वर, पशु, हिंसा, अहिंसा, सत्य, मिथ्या, दंभ, प्रवंचना, विवाह, तलाक, नौकरी, कला, आत्महत्या जैसे सैकड़ों विषयों पर लाल ने अपने ढंग से सोचने की कोशिश की है। यह सोचना जहां-जहां उनके अपने अनुभवों से जुड़ पाया है, वहां संवाद आप्त वाक्यों जैसी गरिमा अर्जित करते दिखाई देते हैं। ऐसे संवाद निश्चयतः नाटक की अर्थवत्ता बढ़ाते हैं।

आंतरिक भावना और बौद्धिक दृष्टि का समन्वय संवादों को प्रभावशाली बनाते हैं। लाल के संवादों में बौद्धिक पक्ष हावी हो जाता है। फिर भी आंतरिक भावना की पूर्ति वे हास्य-व्यंग्य, वैदग्ध्य, वाग्मिता, दार्शनिकीकरण आदि प्रवृत्तियों से कर लेते हैं। इसके साथ ही संवादों में वे शिल्प के प्रति कुछ ज्यादा ही जागरूक होने लगते हैं। संवाद-शिल्प के स्तर वे कई प्रयोग करते हैं जो शब्द-चयन और वाक्य की गठन पर निर्भर करते हैं। किंतु इससे भी एक भिन्न स्तर पर वे संवादों को प्रतीकों तथा बिंबों की सृष्टि के लिए प्रयुक्त करते दिखाई देते हैं। 'कलंकी' के बिंब तत्त्व का स्वयं उन्होंने उल्लेख किया है। वे केंद्रीय बिंब के साथ सहायक बिंबों को जोड़ते हैं और फिर सभी बिंब किसी न किसी रूप में प्रतीकार्थ से जुड़ जाते हैं। 'सगुन पंछी' हो या

'मादा कैक्टस' या 'सूर्यमुख' सब में संवाद एक बिंब को बनाने या बने-बनाए बिंब को तोड़ने में जुटे दिखाई देते हैं। फिर भी बिंब उनका लक्ष्य नहीं, वह एक संप्रेषण का माध्यम मात्र है—लक्ष्य केवल बिंब में लक्षित सत्य है। कई नाटकों में संक्षिप्तता दिखाई देती है; लाल उसकी पूर्ति बिंबों की भाषा से ही करते हैं।

प्राय: विसंगति को उभारने के लिए लाल संवादों को शिल्प में ढालना पसंद करते हैं। कहीं भोंडेपन से, कहीं दिखावे से, कहीं सनकीपन से, कहीं असंबद्धता से वे संवादों का संस्कार कर विसंगति को उजागर करते हैं। जहां स्थिति ही विसंगत हो वहां वह संवादों के माध्यम से ही सर्जित की जाती है। 'अब्दुल्ला दीवाना' इसका एक उदाहरण है। उसमें चपरासी, पुलिस, स्त्री, पुरुष, युवक, वकील ही ऊलजलूल नहीं है, जज भी हास्यास्पद है। यहां पुलिसवाला स्त्री-पुरुष की शादी कराता है: 'आराम। ...अब दूल्हा आगे चलेगा...दुल्हन उसके पीछे-पीछे चलेगी। अटेन्शन। कुइक मार्च। लेफ्ट राइट लेफ्ट। बाएं घूम। लेफ्ट राइट लेफ्ट। दाएं घूम। लेफ्ट राइट लेफ्ट। पीछे घूम।...रुक जा। सामने देख। आंख खोल। आराम।' इस नाटक में चपरासी जैसे पात्र के मुंह में सबसे अधिक सार्थक लगते हैं। इसी प्रकार 'सूर्यमुख' में मांगी विसंगति को पतोला, बिलोमन, हारिक, विदूरथ जैसे मामूली पात्र उखाड़कर रखते हैं।

'करफ्यू' के संवाद ऐसे पात्रों की विसंगति को उभारते हैं जो उड़े-उड़े लगते हैं, तटस्थ किस्म के लोग, काइयां लोग जो जीवन को भोग चुके हैं। ऐसे व्यक्ति कुछ सोचते हैं, कुछ करते हैं। पात्र परंपरा को तोड़ने वाले हैं; इसलिए वे बातचीत करने के सारे ढंग तोड़ देते हैं। कोई भी अपनी बात को सीधे ढंग से नहीं कहता—कोई उकताया-सा बोलता है तो कोई अचेतन की गांठों को लिए बोलता है और कहीं केवल बोलना सिर्फ बोलने के लिए ही है सब कुछ असंबद्ध और अयाचित:

मनीषा : घूरिये नहीं। चबर-चबर खाइए। कुछ आवाज तो हो।
गौतम : टेलिफोन कर लीजिए।
मनीषा : कहां ?...
गौतम : अपने घर।
मनीषा : घर माने।
गौतम : घर।
मनीषा : घ से घर।
गौतम : कहां रहती हैं ?
मनीषा : उनको पता है—मैं यहां हूं।
गौतम : स्योर ही हैं।
मनीषा : वह आप पर शक करती हैं ?
गौतम : माने ?
मनीषा : आप उन पर शक करते हैं ?

गौतम : यह एक शरीफ आदमी का घर है।
मनीषा : आप चिल्ला सकते हैं।
गौतम : बेकार की बातें।
मनीषा : मौसम की बातें करें।
गौतम : वैसे मीटर लगा है।
मनीषा : टेम्प्रेचर इसी में देखते हैं।···ओह कितनी गर्मी है।

इस नाटक में कहीं संवाद 'बोल्ड' किस्म के भी हैं। यद्यपि और नाटककारों की तरह लाल के नाटकों में बेकार का फालतू सेक्स का अंतर्भाव नहीं मिलता; किंतु कुछ 'व्यक्तिगत' में कुछ 'करफ्यू' में और कुछ 'अब्दुल्ला दीवाना' के संवादों में सेक्स को लेकर कुछ तीखे व्यंग्य उभरते हैं। ऊबजलूल स्थितियों पर प्रहार करने में वे कहीं चूकते नहीं। इसके लिए वे सीधे प्रेक्षक से अंतरंग संबंध स्थापित कर लेते हैं। कुछ नाटकों में उन्होंने एक विशेष उपाय से काम लिया है। वे ऐसे संवादों को मात्र दर्शकों के लिए लिखते हैं और पात्र उन्हें सीधे दर्शकों से ही बोलते लगते हैं। 'अब्दुल्ला दीवाना' का प्रारंभ में ही चपरासी का संवाद ऐसा है। 'व्यक्तिगत' में यह प्रयोग और आगे बढ़ा है। वहां दृश्य के अंत में पात्र अकेला छूट जाता है तो वह स्वगत जैसी स्थिति में संभाषण करता है जो प्रेक्षक के लिए संबोधन बन जाता है। इस तरह पात्र उसमें सारी स्थिति की विसंगति को प्रेक्षकों के सामने सीधे ही उद्घाटित कर देता है: 'आप तो जानते ही हैं, हर बात के दो पहलू होते हैं। जब पति अपने आपको स्वतंत्र मानता है तो पत्नी उसे पुलिस इंस्पेक्टर, सी० आई० डी० का दरोगा लगने लगती है, और पति उसे चोर, डाकू और उचक्का लगने लगता है।···मैं अपनी पर्सनल बात बताऊं। शादी से पहले मेरे दिल में सिर्फ एक पुरुष हुआ करता था—प्रेमी, साथी जिसके साथ मैं जी सकूं, मरो कर सकूं। लेकिन शादी हुई तो इनसे। फिर शादी के बाद मेरे दिल में उस पुरुष की जगह दो स्त्रियां आ बैठीं—एक मैं और दूसरी श्रीमती आनंद।'

प्रसंगहीन संवाद ऐसे संदर्भों में सबसे अधिक प्रसंग से जुड़ जाते हैं। अप्रसंग कल्पना जीवन में कितनी प्रासंगिक हो जाती है, इसका संकेत 'दपन' के कुछ संवादों में मिलता है। पूर्वी कहती है, 'प्रसंगहीन बातें कभी-कभी बहुत अच्छी होती हैं न।' और फिर एक प्रसंगहीन संवाद बोलती है: 'एक चिड़िया थी···एक बिल्ली थी··· एक जंगल था···जंगल में एक राजकुमार आया···चिड़िया उसके कंधे पर बैठ गई, बोली, मेरे संग खेलो राजकुमार···। जंगल हंसने लगा। बिल्ली रोने लगी। जंगल हंसने लगा और चिड़िया···।' इस अप्रसंग संवाद की प्रासंगिकता सुजान मुखर करता है: 'जंगल जल गया। बिल्ली उसी में मर गई और चिड़िया वहां से उड़कर राजकुमार के पास आ गई।' इस बात को सुनते ही गंभीर हो उठती है। लाल के नाटकों में ऐसी ही अप्रत्यक्ष तीखी मार करनेवाले अप्रासंगिक असंबद्ध संवाद मिलते हैं।

मौन का भी वे कुछ ऐसा ही प्रयोग कर दिखाते हैं। वे मौन का प्रयोग प्रायः असंबद्ध संवाद-समूह के बीच करते हैं। कई संवादयुग्मों के बीच एक के बाद दूसरे

मौन की स्थिति उनके कई नाटकों में दिखाई
वह : अच्छा अब बताओ।
मैं : मेरी कमाई है। पूरे ढाई हजा
पच्चीस हजार लोन लेने पे
वह : तो यह कमीशन है।
मैं : मेरी कमाई है।
वह : कैसी कमाई ?

(वि

मैं : देखो यह हार बिल्कुल
पहनकर पार्टी में मिली
वह : मैं मिसेज रामलाल हूं

मैं : मेरा मतलब···।
वह : ऐसा क्यों करते हो
मैं : सब करते हैं।
वह : दूसरों की बातें
मैं : दूसरों की बातें

लाल नाटककार ही
पच्चीकारी करना जानते हैं
से परिचित कराता है। वे
नई विधियां सर्वसामान्य
नाटकों में पारसी रंगमंच
किया है:
महानिरीक्षक

महारथ
कवि
शकु
क्षम
एक निर्ध
कहीं समानांतर

मौन की स्थिति उनके कई नाटकों में दिखाई देती है। एक उदाहरण लीजिए :

वह : अच्छा अब बताओ।

मैं : मेरी कमाई है। पूरे ढाई हजार। ऐसा है कि एक आदमी को बैंक से पच्चीस हजार लोन लेने थे।

वह : तो यह कमीशन है।

मैं : मेरी कमाई है।

वह : कैसी कमाई ?

(विराम)

मैं : देखो यह हार बिलकुल उसी तरह का है जैसा मिसेज रामलाल उस दिन पहनकर पार्टी में मिली थीं।

वह : मैं मिसेज रामलाल हूं क्या ?

(विराम)

मैं : मेरा मतलब···।

वह : ऐसा क्यों करते हो ?

मैं : सब करते हैं।

वह : दूसरों की बातें क्यों करती हो ?

मैं : दूसरों की बातें तुमने शुरू कीं। 'ऐसा सब करते हैं।'

(विराम)

लाल नाटककार ही नहीं, अभिनेता भी हैं। नाटककार के रूप में वे शब्द की पच्चीकारी करना जानते हैं और अभिनय का अनुभव उन्हें संवादों की लयात्मकप्र कृति से परिचित कराता है। वे इसके लिए नई-पुरानी सभी विधियों का प्रयोग करते हैं। नई विधियां सर्वसामान्य हैं किंतु 'एक सत्य हरिश्चंद्र' और 'नरसिंह कथा' जैसे मिथकीय नाटकों में पारसी रंगमंच के नाटकों जैसी तुकांत पद्धति को अपनाकर एक नया प्रयोग किया है :

महानिरीक्षक : हमारे अधिकारी निरीक्षण करते रहे, ये जिस तरह व्यवहार करते रहे···।

महारक्षक : आचार, विचार करते रहे···

कवि : हाहाकार करते रहे···

शकुनि : हत्या को अस्वीकार करते रहे···

शम्बर : पकड़ते ही चीत्कार करते रहे···

एक निर्धारित डिजाइन में संवादों की सर्जना में लाल ने कहीं नपे-तुले छोटे, कहीं समानांतर वाक्य-विन्यास युक्त, कहीं अनुप्रास, कहीं मौन, कहीं पुनरावृत्ति वाले

संवादों की सृष्टि की है। कहीं संवादों में त्वरा और वाग्प्रवाह दिखाई देती है। आक्षेप, खंडन-मंडन आदि की स्थितियों में तीव्र प्रहार करते हुए संवाद आगे बढ़ते हैं। उनमें जो भी शिल्प प्रयोग दिखाई देता है उसका लक्ष्य होता है एक प्रच्छन्न अर्थ को उजागर करना जिसमें लाल सिद्धहस्त हैं। इससे हिंदी नाट्य रंगमंच जितना अधिक बहुरंगी, बहुरूपी हुआ है, उतना ही आधुनिक और महत्त्वपूर्ण हुआ है।

इस तथ्य ने हिंदी के अनेक ना
हरिश्चंद्र से लेकर अब तक के
और पौराणिक प्रसंगों को
संयोग कहता है, कोई इसे इ
मानता है, कोई इसे आधुनि
परिचायक कहता है—तात्पर्
आधुनिक नाटक की रचना
विशेष की किसी प्रवृत्ति को
जा सकती, इसे इतिहास औ
एवं सूक्ष्म विश्लेषण के लिए
उपयोग अपने जनमानस की
चलना चाहिए। यह विवे
अभिव्यक्ति के शक्तिशाली
पंक्तियों के लेखक ने अपने
40, अक्टूबर-दिसंबर 19
आधुनिक रचनाकार क्ष
हैं और जिनके अनुसार
उनको ध्यान में रखक
विशिष्ट आधुनिक सं
सकता है। उस निर्
करेंगे। यहां हम प्र
इतिहास-पुराण को
महत्त्वपूर्ण नाटक भ
विवेच्य हो सकते
'यक्ष प्रश्न,' 'उत्तर

ती है। आक्षेप,
ढ़ते हैं। उनमें
र्थ को उजागर
धिक बहुरंगी,

मिथक और लाल के नाटक

डा० सिद्धनाथ कुमार

इस तथ्य ने हिंदी के अनेक नाट्य-समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर अब तक के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण हिंदी नाटक ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाकर ही लिखे गए हैं। कोई इसे मात्र संयोग कहता है, कोई इसे इतिहास की परंपरा में आधुनिक युग को देखने का प्रयत्न मानता है, कोई इसे आधुनिकता का विरोधी करार देता है और रोमेंटिक दृष्टि का परिचायक कहता है—तात्पर्य यह है कि इतिहास और मिथक को आधार बनाकर आधुनिक नाटक की रचना का प्रश्न अत्यंत विवादास्पद रहा है। साहित्य या युग-विशेष की किसी प्रवृत्ति की व्याख्या 'मात्र संयोग' या 'आकस्मिक' कहकर नहीं की जा सकती, इसे इतिहास और परिवेश के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। यहां विस्तृत एवं सूक्ष्म विश्लेषण के लिए अवकाश नहीं है। संभवतः मिथक और इतिहास का उपयोग अपने जनमानस की चेतना के मेल में पड़ता है, और इस तथ्य को मानकर चलना चाहिए। यह विवेच्य हो सकता है कि पौराणिक प्रसंग आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति के शक्तिशाली माध्यम बन सकते हैं या नहीं, बन सके हैं या नहीं ? इन पंक्तियों के लेखक ने अपने निबंध 'पौराणिक प्रसंग और आधुनिक संवेदना' ('आलोचना' 4०, अक्टूबर-दिसंबर 1967) में इस विषय पर विस्तार से विचार किया है, और जो आधुनिक रचनाकार क्षण एवं अनुभूति की अद्वितीयता और विशिष्टता का दावा करते हैं और जिनके अनुसार न क्षण दुहराया जा सकता है, न अनुभूति दुहराई जा सकती है, उनको ध्यान में रखकर यह निष्कर्ष दिया था कि पौराणिक या ऐतिहासिक प्रसंग ऐसी विशिष्ट आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम न बन सका है, न बन सकता है। उस निबंध के कुछ अन्य निष्कर्ष भी हैं जिनका हम यहां यथास्थान उल्लेख करेंगे। यहां हम अपनी बात दुहराकर आगे चलेंगे कि हिंदी के अधिकांश प्रमुख नाटक इतिहास-पुराण को आधार बनाकर लिखे गए हैं, और डा० लक्ष्मीनारायण लाल के महत्त्वपूर्ण नाटक भी इसी संदर्भ में आते हैं। डा० लाल के जो मिथक नाटक यहां विवेच्य हो सकते हैं, वे हैं—'शरणागत' 'सूर्यमुख', 'नरसिंह कथा,' 'एक सत्य हरिश्चंद्र,' 'यक्ष प्रश्न,' 'उत्तर युद्ध,' 'कलंकी' और 'मिस्टर अभिमन्यु'। डा० लक्ष्मीनारायण लाल

हिंदी के आधुनिक नाटककारों में सर्वाधिक जागरूक प्रयोगशील रचनाकार हैं, और इन्होंने वस्तु एवं रूप दोनों दृष्टियों से अपने नाटकों में अनेक सार्थक प्रयोग किए हैं। नाटक में मिथक के उपयोग की दृष्टि से भी इनके प्रयोग नाट्य-अध्येताओं और रंगकर्मियों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले हैं। प्रयोगों की दृष्टि से ही हम डा० लाल के मिथक नाटकों का विश्लेषण-विवेचन करना चाहेंगे।

पुराना मिथक : नई व्याख्या

मिथक के लिए 'पुराना' विशेषण देने की आवश्यकता नहीं होती—मिथक पुराना ही होता है, पर कभी-कभी नए परिवेश में नए मिथकों को रचने की कोशिशें भी की जाती हैं। मिथक किसी जाति या देश की सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति हैं। उनमें प्राचीन काल के लोगों ने अपने युगमानस को अपने ढंग से प्रकट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उनमें अपने समय के ही गहनतम विश्वासों एवं आदर्शों की अभिव्यक्ति हुई है, पर सामूहिक चेतना का प्रतिफलन होने के कारण उनमें देश या जाति की संस्कृति सुरक्षित रहती है और उनका प्रभाव कालांतर में भी बना रहता है, यह बात दूसरी है कि चिंतन-पद्धति में परिवर्तन के साथ-साथ उनके प्रभाव में क्षीणता आती जाती है—इतिहास में ऐसा भी क्षण आ सकता है जब जन-मानस का संबंध पौराणिक विश्वासों एवं आदर्शों से विच्छिन्न-सा हो जाए। वैसी स्थिति में पौराणिक प्रसंग प्रभाव एवं विश्वास-सृष्टि की अपनी क्षमता खो बैठते हैं। लेकिन, इतना सत्य है कि पौराणिक प्रसंगों में आई कुछ संज्ञाएं अपने प्राचीन संदर्भों को छोड़कर प्रतीक बन जाती हैं। राम, रावण, अभिमन्यु, चक्रव्यूह, रथ का पहिया आदि ऐसे ही पौराणिक शब्द हैं जो आज प्रतीक बन गए हैं। काव्य में ऐसे प्रतीकों का मूल्य असंदिग्ध है। इनके माध्यम से यदि कोई कवि अपने समय की संवेदना को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है, तो इससे उसका काव्य समृद्ध हो सकता है। ये प्रतीक वर्तमान को अतीत से जोड़ने के लिए सेतु का काम करते हैं। इनके माध्यम से शक्ति-संपन्न रचनाकार शब्दों का अर्थ-विकास करने में समर्थ होता है, और समय का नैरंतर्य व्यंजित करने में सक्षम पौराणिक प्रतीक वर्तमान के अतीतत्व या अतीत की वर्तमानता प्रकट करने के बड़े शक्तिशाली साधन हैं। किसी आधुनिक मिथक-रचना के अध्ययन में यह देखना आवश्यक है कि रचनाकार का जोर पूरे पौराणिक प्रसंग पर है या उसके प्रतीकत्व पर। यह ध्यातव्य है कि कोई भी जागरूक रचनाकार अपनी रचना में किसी पौराणिक या ऐतिहासिक प्रसंग की मात्र आवृत्ति करना नहीं चाहता, बल्कि अपने युग की दृष्टि से उसकी पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करना चाहता है। पुनर्व्याख्या का यह काम प्रतीकों के माध्यम से हो सकता है —रचनाकार का कथ्य प्रतीकों के सहारे अतीत को वर्तमान से जोड़ता है। जहां प्रसंगों के ब्यौरे में रचनाकार और पाठकों का ध्यान जाने लगता है, वहां कथ्य की संप्रेषणीयता और स्थितियों, चरित्रों एवं अनुभूतियों की विश्वसनीयता आदि से संबंधित अनेक प्रश्न उभरने लगते हैं। कुछ स्थितियों में प्रसंगों का भी महत्त्व होता है जिसकी चर्चा

हम आगे यथास्थान करेंगे। हम यहां देखना चाहेंगे कि डा० लाल ने पौराणिक प्रसंगों और प्रतीकों पर किस अनुपात में जोर दिया है, और किस प्रकार पुराने मिथकों की नई व्याख्या प्रस्तुत की है।

डा० लाल का प्रथम महत्त्वपूर्ण मिथक एकांकी था 'शरणागत', जो आकाशवाणी की नाटक प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ स्वीकृत हुआ था। यह नाटक महाभारत के परीक्षित-तक्षक प्रसंग पर आधारित है—परीक्षित अभिशप्त है, तक्षक उसे डंसनेवाला है, परीक्षित-पुत्र जनमेजय अपने पिता की रक्षा के लिए दृढ़संकल्प है। इसमें नाटककार का ध्यान पूरे पौराणिक प्रसंग पर उतना नहीं है जितना पात्रों को प्रतीकों के रूप में ग्रहण करने पर। वह पात्रों को प्रतीक बनाकर उनकी नई व्याख्या करना चाहता है। तक्षक मृत्यु है, वह परब्रह्म का विधान है, वह विराट् और शाश्वत का अंश है, वह दृश्य-अदृश्य दोनों से परे है, वह सूक्ष्म है, अकेला है पर सब जगह है, वह हृदयहीन है, उसके पास दया नहीं है। परीक्षित और जनमेजय दोनों ही जीवन के प्रतीक हैं, लेकिन दोनों में अंतर है—परीक्षित स्थिति से समझौता करके, उसे विधि का विधान मानकर अपनी मुक्ति के लिए चिंतित है, लेकिन जनमेजय यह मानता है कि ईश्वर का विधान केवल मृत्यु के लिए नहीं है—वह जीवन की कर्मठता का प्रतीक बनकर सम्मुख आता है—"बैठकर मरने में मुक्ति नहीं, ऐसी मृत्यु पांडुवंश में नहीं होती। कभी नहीं हुई। जीना और संग्राम करके जीना, यह पांडुकुल की मुक्ति है।...मैं जागरूक हूं, और ऐसी मृत्यु से संग्राम करूंगा, जो जीवन को अभिशप्त करती है।' जीवन का यह महत् सत्य नाटक में बार-बार उभरता है—"मृत्यु से जीवन का पल्ला बड़ा है।...जीवन सब कुछ सह लेता है। बड़ा चौड़ा है इसका कंधा।" नाटक में ऐसी स्थिति आती है जिसमें तक्षक परीक्षित की शरण में आता है—मृत्यु जीवन की शरण में, और परीक्षित तक्षक को शरण देता है। मुझे किसी कवि की पंक्तियां याद आती हैं—'मौत भी जिंदगी में डूब गई, यह वो दरिया है जिसकी थाह नहीं।' कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटककार ने पात्रों को उनके प्रसंगों से मुक्त कर, उन्हें प्रतीक बनाकर समय के विस्तार में छोड़ दिया है। यह सही है कि नाटक में रचनाकार के समय की चेतना कम है, लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह है कि उसमें समय-समय की चेतना है, हर समय की चेतना है। जीवन के चिरंतन सत्यों को पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से व्याख्यायित करने के प्रयत्न अपने साहित्य में होते रहे हैं, और डा० लाल ने 'शरणागत' में कुछ वैसा ही करने का प्रयत्न किया है—यह प्रयत्न सफल है, सार्थक, है प्रभावशाली है, इसमें संदेह नहीं।

'सूर्यमुख' में डा० लाल ने मिथक का प्रयोग अपने समय की प्रवृत्ति और अपने समय के बोध को व्यंजित करने के लिए किया। 'सूर्यमुख' का कथानक महाभारत के अंतिम चरण से संबंधित है। इसमें कृष्ण-रुक्मिनी का पुत्र प्रद्युम्न। (जिसे नाटककार ने प्रदुम्न कहा है) कृष्ण की अंतिम पत्नी वेनुरती से प्रेम करता है—दोनों में 'अप्रतिम आश्चर्यजनक प्रेम' है। रुक्मिनी इस प्रेम को अनुचित मानती है। प्रजा भी इसकी

निंदा करती है और इसे ही कृष्ण की मृत्यु के बाद द्वारिका में उत्पन्न अराजक स्थिति का कारण समझती है। प्रद्युम्न अपने भय को त्यागकर द्वारिका की रक्षा करता है, रुक्मिनी अपने पुत्र को क्षमा कर देती है, और अंत में प्रद्युम्न और वेनुरती द्वारिका के लिए लड़ते-लड़ते एक साथ एक-दूसरे के प्रति पूर्णतः समर्पित होकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। इस नाटक पर कई दृष्टियों से आक्षेप किया गया है—महाभारत की कथा के अनुसार यदुवंश के संपूर्ण विनाश (जिसमें प्रद्युम्न की भी मृत्यु शामिल है) के बाद कृष्ण की मृत्यु हुई थी, महाभारत के अनुसार द्वारिका की मुक्ति के लिए किसी यादवी शिशु के बच रहने का उल्लेख नहीं है, कृष्ण संबंधी कथाओं में किसी वेनुरती नामक पत्नी का उल्लेख नहीं मिलता और न प्रद्युम्न-वेनुरती के प्रेम का ही—ऐसी स्थिति में इस नाटक की पौराणिकता ही संदिग्ध है। (धर्मयुग, 27 जुलाई 1969) इसमें माता-पुत्र का जो प्रेम चित्रित है, वह भी भारतीय संस्कृति के इतिहास-पुरुष कृष्ण की पत्नी और पुत्र का पारस्परिक प्रेम, वह भारतीय संस्कारों को सहज ग्राह्य नहीं हो पाता—"नूतन कल्पना की सृष्टि को भोंक में आधुनिक युग-बोध को प्रस्तुत करने की चेष्टा, 'इडिपस कांपलेक्स' को रूपायित करने के प्रयत्न में कृष्ण-कथा को दिया गया यह रूप अशोभन, अनुचित और असंगत है।" (धर्मयुग, वही), और "कथानक की इर्थ व्यंजना में फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का विशेष विनियोग लक्षित है।—नाटककार ने वेनुरती (कृष्ण की अंतिम पत्नी) और प्रद्युम्न (रुक्मिणी की कोख से उत्पन्न कृष्ण का ही पुत्र) की प्रणयानुभूति के माध्यम से प्रणय-संबंधी मूल्यगत भ्रांति का रूप प्रस्तुत किया है। प्रत्यक्ष ही, यह प्रणय-संबंधी अनास्था का द्योतक है। यह अनास्था पर्याप्त चौंका देनेवाली है। आज के सामाजिक के लिए भी इस आधुनिकता को पचा पाना कठिन प्रतीत होता है। नाटककार ने कृष्ण के प्रति हमारी आस्था—समन्वित पौराणिक दृष्टि को पर्याप्त विकृत कर दिया है।" (समीक्षा, जुलाई-सितंबर 1968)

आक्षेपों के संबंध में दो बातें ध्यातव्य हैं। पहली बात यह कि नाटककार ने 'पौराणिक' नाटक लिखने का दावा नहीं किया है—पौराणिक नाटक लिखना उसका उद्देश्य ही नहीं है, वह तो पौराणिक प्रसंगों के माध्यम से आधुनिक जीवन का नाटक लिखना चाहता है। यह अवश्य ही विचारणीय हो सकता है कि सृजनात्मक रचनाकार को सुपरिचित पौराणिक प्रसंगों में परिवर्तन का अधिकार किस सीमा तक है। यह एक पुराना प्रश्न है, और इस पर बहुत पहले से विवाद होते रहे हैं। कोई भी रचनाकार किसी ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को उसकी तथातथ्यता में नहीं प्रस्तुत करता। मैंने अपने पूर्वनिर्दिष्ट निबंध में लिखा था—"जिन रचनाकारों ने आज की अभिव्यक्ति के लिए कल को अपना आधार बनाया है, उन्होंने या तो कल को अपने अनुरूप तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश की है या कल पर आज को बलपूर्वक आरोपित किया है।" कला और कलाकार के अधिकार को स्वीकार करते हुए मानना चाहिए कि स्वाभाविकता और विश्वसनीयता को आघात पहुंचाए बिना पुराने प्रसंगों में हेर-फेर करने

का अधिकार रचनाकार को है। दूसरी ध्यान देने की बात दर्शकों के परंपरागत संस्कारों पर आघात करने से संबंध रखती है। नाट्य-प्रदर्शन में दर्शकों का महत्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है, और नाटककार को दर्शकों के संस्कारों का ध्यान रखना पड़ता है। इसका बड़ा अच्छा उदाहरण अमरीकी नाटककार ब्रांसन हावर्ड का है जिसने अपने प्रसिद्ध लोकप्रिय नाटक 'दि बेंकर्स डाटर' को इंग्लैंड में प्रदर्शित करते समय अंग्रेजी जनसमुदाय के संस्कारों को देखते हुए उसमें अनेक परिवर्तन किए थे। डा० लाल ने 'सूर्यमुख' में कृष्ण-पुत्र और कृष्ण-पत्नी के प्रेम के माध्यम से जिस आधुनिक स्वच्छंद प्रेम को चित्रित करने का प्रयत्न किया है, वह सामान्य भारतीय जनमानस को सहजस्वीकार्य न हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि इसके लिए क्या कोई अन्य मिथक कथाबिंब अधिक उपयुक्त नहीं हो सकता था? इससे आगे बढ़कर भी एक अन्य प्रश्न आता है—क्या इस प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए मिथक का आधार अनिवार्य ही था? पुस्तक के प्रारंभ में डा० एम० एल० शर्मा ने 'सूर्यमुख : एक साक्षात्कार' के शुरू में ही लिखा है—"मध्यकालीन साहित्य के समक्ष मिथक बनने की समस्या थी और आज की चुनौती अपने को मिथक बनने से रोकने या काट लेने की है। आज का साहित्यकार मिथक का प्रयोग परंपरा मुक्ति के लिए करता है।" सीधा प्रश्न है कि यदि आज की चुनौती अपने को मिथक बनने से रोकने या काट लेने की है, तो रचनाकार मिथक का आधार ग्रहण ही क्यों करता है? मिथक का प्रयोग साहित्यकार को परंपरा से तोड़ता नहीं, जोड़ता है। यदि प्रस्तावना-लेखक का उद्देश्य यह कहने का हो कि आज का साहित्यकार मिथक का प्रयोग परंपरा मुक्ति के लिए नहीं, परंपरा को खंडित करने के लिए करता है, तो यह बात कुछ अंश तक विचारणीय हो सकती है। आज का रचनाकार परंपराओं को तोड़ने में विश्वास करता है, पाठकों-दर्शकों की बद्धमूल धारणाओं पर आघात करना चाहता है, उनकी चेतना को झटका देना चाहता है। लक्ष्मीनारायण लाल के आधुनिक विद्रोही रचनाकार ने 'सूर्यमुख' में संभवतः यही करना चाहा है।

'सूर्यमुख' कई धरातलों पर चलता है, पर मुख्य धरातल प्रेम का ही है। आधुनिक युग में नैतिकता के पूर्वनिश्चित बंधनों में बंधी हुई प्रेम-भावना के विरोध में जो आवाज सुनाई पड़ने लगी है, उसी की प्रतिध्वनि डा० लाल के इस नाटक में सुनी जा सकती है। श्रीकृष्ण ने स्वयं परंपरागत मर्यादाओं का खंडन किया था, और वेद, लोक और परिवार की रूढ़ियों को तोड़कर गोपियों से प्रेम किया था। प्रद्युम्न-वेनुरती का प्रेम इससे एक चरण आगे बढ़कर आता है—यह माता और पुत्र का प्रेम है। नाटक में स्वर सुनाई पड़ता है—'क्या वास्तव में प्रद्युम्न ने अधर्म किया है? बोलो, प्रेम अधर्म है क्या?' और इसका उत्तर मिलता है—'वह प्रद्युम्न भविष्य है। वह नया है। सूर्यमुख है वह। उसने इस अंधकार में प्रेम का एक नया मनवंतर प्रारंभ किया है।' वर्तमान भारतीय समाज अपने विकास के जिस चरण से अभी गुजर रहा है, उसमें इस नए मनवंतर को वह कहां तक उचित मानता है, इसे कहां तक स्वीकार्य

समझता है, यह अवश्य ही विवादग्रस्त विषय है।

'सूर्यमुख' में आधुनिक युग-बोध के भी अनेक स्वर बार-बार सुनाई पड़ते हैं, और हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। आज के राजनीतिक संदर्भ की चेतना इस नाटक में अनेक स्थलों पर मुखरित हुई है —'सारे यदुवंशी कहते हैं, हमने महाभारत का युद्ध लड़ा है, और अब हमारे भोज करने का समय है।'···'महाभारत के बाद कृष्ण ने अपनी नारायणी सेना को भंग करने का आदेश दिया था, पर तुम सब उस सेना को टुकड़ों में बांटकर उसी के सहारे राज्य-लिप्सा के युद्ध में डूब गए।'···'जागो द्वारिका के लोगो, अपने अधिकारों के लिए जागो। अपने राष्ट्र के लिए जागो। कौन है तुम्हारा राजा, इसका फैसला अब तुम करो। तुम कौन थे, अब क्या हो गए हो और क्या होना चाहते हो, अब समय आ गया है, इसका उत्तर अब तुम्हीं दो।' ये सभी स्वर मिथक की भूमि से ऊपर उठकर हमारे वर्तमान परिवेश में प्रतिध्वनित होते हैं। परिवेश के प्रति रचनाकार की जागरूकता का यह परिचायक है। लेकिन, जहां रचनाकार ने वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक परिवेश को मिथक के प्रेम-प्रसंग से जोड़ना चाहा है, वहां विचार के कुछ बिंदु उपस्थित होते हैं। एक स्थान पर व्यासपुत्र कहते हैं :

> "दक्षिण दिशा से समुद्र बढ़ता चला आ रहा है, पर उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं। नगर में रोगियों, गुंडों और भिखारियों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि राह चलना कठिन है। वस्तुओं के दाम इतने बढ़ गए हैं कि मनुष्य अपने को बेचकर भी उन्हें नहीं खरीद पाता। राजा उग्रसेन मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। बभ्रु और साम्ब सिंहासन के लिए लड़ रहे हैं। सारी नारायणी सेना अलग-अलग वंशों, शिविरों में बंटकर हिंसा, लूट और व्यभिचार में डूबी है। (रुककर) निश्चय ही यह महाकाल का कोप है, और लोगों का विश्वास है, इसके मूल में तुम्हारा वही पाप-कर्म है···"

'वही पाप-कर्म' यानी प्रद्युम्न-वेनुरती का प्रेम। व्यासपुत्र की वाणी निश्चय ही हमारे वर्तमान परिवेश की ओर संकेत करती है, लेकिन जब नाटककार उसे प्रद्युम्न-वेनुरती के 'पाप-कर्म' से जोड़ने का प्रयत्न करता है, तब स्थिति की विश्वसनीयता पर आघात पहुंचता है। कभी वैसे 'पाप-कर्म' से निर्दिष्ट अवांछनीय स्थितियां उत्पन्न होती होंगी। यूनानी नाटक में ऐसी अवांछनीय स्थितियों के उत्पन्न होने का कारण ओडिपस का अपनी मां से विवाह कर लेना बतलाया जाता है, और तत्कालीन संदर्भ में इसे सही भी मान लिया जाता है, पर आज इस बुद्धि, विज्ञान और तर्क के युग में वैसा कारण कार्य संबंध सहज ही विश्वासयोग्य नहीं बनता। तात्पर्य यह कि 'सूर्यमुख' में परंपरास्वीकृत नैतिक मूल्यों के विरोध में स्वच्छंद प्रेम का प्रश्न उठाना अनुचित नहीं कहा जा सकता, उसके प्रसंगों और संवादों से इस युग की जिसमें हम हैं, व्यंजना कराना प्रशंसनीय ही कहा जाएगा, लेकिन इन दोनों को परस्पर जोड़ने के प्रयत्न में नाटक की विश्वास सृष्टि-क्षमता कहीं न कहीं बाधित होती है, ऐसा लगता है। लेकिन, जैसा मैंने पहले कहा, डा० लाल प्रयोगशील नाटककार हैं, और 'सूर्यमुख' को भी एक

महत्त्वपूर्ण प्रयोगशील नाटक के रूप में देखना चाहिए।

प्रतिबंधित परिवेश और मिथक का प्रयोग

अपने पूर्वनिर्दिष्ट निबंध का अंश फिर उद्धृत करना चाहता हूं—"आधुनिकता की दृष्टि अपने युग के दाहक यथार्थ को उसके प्रत्यक्ष रूप में ही देखती है, उसे कहीं प्रक्षेपित करके नहीं। हां, एक स्थिति अपवाद हो सकती है—जहां वास्तविकता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति पर बंधन हो, वहां पौराणिक प्रसंगों के उपयोग की सार्थकता, विवशता में ही सही, समझी जा सकती है। प्रसाद ने पराधीनता-काल में ऐतिहासिक प्रसंगों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना व्यक्त की, तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। सार्त्र ने जर्मन सेंसर से बचने के लिए यदि अपने नाटक 'फ्लाइज' का कथानक यूनानी पुराकथाओं से लिया, तो उसका औचित्य समझा जा सकता है। वैसी स्थिति में पूरा प्रसंग ही वर्तमान स्थिति का प्रतीक बन जाता है, और उन कृतियों का समसामयिक पाठक स्थिति विशेष की सीमाओं को समझता हुआ उसका अपेक्षित अर्थ ग्रहण कर लेता है—रचनाकार की संवेदना से तादात्म्य कर लेना उसके लिए कठिन नहीं होता।" स्पष्टतः जहां किसी परिवेश में प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति पर बंधन हो, वहां अपने समय की चेतना को व्यक्त करने के लिए मिथक का अप्रत्यक्ष माध्यम बहुत प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है—वहां अप्रत्यक्ष माध्यम में ही प्रत्यक्षता की क्षमता आ जाती है। अपने देश में स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले भी और बाद भी स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर किसी-न-किसी सीमा तक प्रतिबंध अवश्य ही रहा है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद स्वतंत्र चिंतन एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति के उपयुक्त परिवेश की अपेक्षा की जाती थी, पर ऐसा हुआ नहीं। अभिव्यक्ति पर कठिनतम बंधन का अनुभव आपात्काल के उन्नीस महीनों में स्वाधीन चिंतन में विश्वास रखनेवाले सभी लोगों को हुआ। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस प्रतिबंधित परिवेश में मिथकों को आधार बनाकर राष्ट्र की घुटती आत्मा को वाणी देने का बड़ा सफल प्रयोग अपने कुल नाटकों में किया। ये प्रयोग कई तरह के रहे। हम यहां इन पर विचार करेंगे।

आपात्काल में लिखित डा० लाल का पर्याप्त शक्तिशाली नाटक है 'नरसिंह कथा'। नाटककार ने जिस पौराणिक प्रसंग को अपना आधार बनाया, वह आधुनिक परिवेश का पर्याय-सा बन गया। ऋक्ष गणतंत्र का मंत्री हिरण्यकशिपु गणतंत्र के अध्यक्ष अभयलिच्छु की हत्या करके अधिकार के सभी पक्षों को स्वयं संभाल लेता है, सर्वशक्तिमान बन जाता है, स्वयंभू करने का दावा करने लगता है, अधिनायकवादी शासक बन जाता है, अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों और नेताओं को कारागार में डाल देता है, स्वाधीन चिंतन एवं अभिव्यक्ति पर रोक लगा देता है। इस स्थिति का चित्र स्वयं इस नाटक के कुछ उद्धरणों से मिल सकता है—'राजा का हर कार्य विशेषाधिकार का होता है।···रक्षा के नाम पर हिंसा, यही है नया धर्म इस नए राज्यशासन का।···इस ऋक्ष गणराज्य को खत्म कर हिरण्यकशिपु जैसा निरंकुश

एकाधिपति यहां इस तरह सिंहासन पर बैठा हुआ है।···राजा ही ईश्वर है। राजा ही देश है। देश ही राजा है।··· जो बंदीगृहों में हैं, वे देश के शत्रु हैं। उन्हें अभी मुक्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।···मेरे यश लाभ, शक्ति के लिए मनोरंजक कथाएं गढ़कर क्यों नहीं फैलाते? मेरे राजकवि, कलाकार आदि कहां हैं? उन्हें बुलाने के लिए पुरस्कार और उपाधियों की घोषणा की जाती है···।···एक निरंकुश राजा के बाद दूसरा निरंकुश राजा नहीं आए, प्रजातंत्र आए, यही है मेरी चिंता।··· हमारा स्वराज्य हमें कब मिलेगा? जब सब चाहेंगे। स्वराज्य किसी के देने से नहीं मिलता। स्वराज्य दान नहीं है, यह आग है। यह सतत जिम्मेदारी है। इसे लाना पड़ता है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि डा० लाल ने अपने प्रतिबंधित परिवेश के लिए बड़ा सार्थक और सटीक पर्याय अपने एक सुपरिचित भारतीय पौराणिक प्रसंग में खोज लिया है, और उसके माध्यम से वह सब कुछ बड़े प्रभावशाली रूप में कहा है जो उस परिवेश का प्रत्येक सजग व्यक्ति कहना चाहता था, पर कह नहीं सकता था।

'नरसिंह कथा' का पूरा परिवेश एक विशेष आधुनिक स्थिति का तो पर्याय बना ही है, इसके पात्र भी विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक बनकर सम्मुख आते हैं। हिरण्यकशिपु अधिनायकवादी मनोवृत्ति का सत्तालोलुप निरंकुश शासक है; प्रह्लाद उस प्रजा का प्रतीक है जिसके माध्यम से आस्था का, स्वाधीन चिंता का, मुक्ति का, निरंकुश शासन के विरोध का, स्वधर्म का संदेश नाटक में बार-बार सुनाई पड़ता है—'हर मनुष्य के पास स्वधर्म नामक एक संपदा है। उसी धर्म में उसकी मुक्ति है।' शुक्राचार्य व्यवस्था का साथ देनेवाला सुविधावादी आज का तथाकथित बौद्धिक चिंतक है, और नरसिंह वह शक्ति है जो मूल्यों में विश्वास करता है ('मूल्यहीन शक्ति ही पशु है, मूल्यों से जुड़कर मनुष्य नरसिंह बनता है') और संकट की घड़ी में प्रजा की रक्षा करता है। ये सभी प्रतीक अपने संदर्भ में बड़े सार्थक और विश्वसनीय लगते हैं—रचनाकार के कथ्य की अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण के शक्तिशाली माध्यम बनकर आए हैं।

'नरसिंह कथा' का अर्थ संदर्भ विशेष तक ही सीमित नहीं रह जाता, बल्कि अपनी व्यंजना-क्षमता के कारण समय के विस्तार में जाता है। सत्तालिप्सा मनुष्य की प्रवृत्ति में है जिसके फलस्वरूप वह दूसरों के अधिकारों का अतिक्रमण कर स्वयं को सबके भाग्य का विधाता बनने का दावा करने लगता है, और ठीक इसी प्रकार स्वाधीनता की चेतना और आकांक्षा मनुष्य के भीतर है जो मनुष्य को संघर्ष और मुक्ति के लिए प्रेरित करती रहती है। जहां हिरण्यकशिपु है, वहीं प्रह्लाद भी है, फलतः नरसिंह कथा समय की सीमा में बंधनेवाली नहीं है। नाटककार लाल ने उस कथा को चुना, उसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया, उसे नया अर्थ दिया, यह रचनाकार की प्रतिभा और क्षमता का प्रमाण है।

'यक्ष प्रश्न' में संकलित दोनों लघु नाटक ('उत्तर युद्ध' और 'यक्ष प्रश्न') भी आपातकाल की ही रचनाएं हैं। समसामयिकता का सामना करने का मिथक का एक नया प्रयोग इन नाटकों में दीखता है। 'शरणागत' और 'सूर्यमुख' को नाटककार ने

प्रत्यक्षतः और शब्दतः वर्तमान से जोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं किया था—उन मिथकों को स्वतंत्र छोड़ दिया था कि उनसे आधुनिक बोध स्वतः व्यंजित हो जाए। 'नरसिंह कथा' में डा० लाल ने पुराण को आधुनिक जीवन और युगबोध से प्रत्यक्षतः जोड़ने का प्रयत्न किया। नाटक के पहले दृश्य में ही पात्र कहते हैं (वे पात्र कहते हैं, जो अभिनेता है, जो इस युग के हैं, और बाद में नाटक के पात्र बन जाते हैं, यानी पात्रों के धरातल पर भी अतीत और वर्तमान जुड़ा हुआ है) : 'यह सोचने की बात है—इस पौराणिक नाटक से भला हमारा क्या संबंध ?···कहां वह कपोल-कल्पित पुराण कथा, सो भी श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में और कहां आज का यह यथार्थ जीवन। हुआ होगा कोई हिरण्यकशिपु, नहीं नहीं, हिरण्यकशिपु।···तुम समझते हो हिरण्यकशिपु—प्रह्लाद महज एक पौराणिक कथा है ? वे सतयुग में थे, आज नहीं हैं ? जो नहीं, आज भी हैं हिरण्यकशिपु हमारे बीच।···हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की लड़ाई अब तक चल रही है।' तात्पर्य यह कि उस नाटक में नाटककार ने पौराणिक प्रसंग को आज के यथार्थ जीवन से प्रत्यक्षतः जोड़ा था। 'यक्ष प्रश्न' और 'उत्तर युद्ध' में डा० लाल के मिथक प्रयोगों का अगला चरण दिखलाई पड़ता है। इन नाटकों में पौराणिक प्रसंगों का आधार भात्र रह जाता है, चरित्रों के नाम मात्र पौराणिक रह जाते हैं, और इनके अतिरिक्त सब कुछ आधुनिकयुगीन हो जाता है। 'यक्ष प्रश्न' में चरित्र पुराने हैं, प्रश्न नए हैं, 'उत्तर युद्ध' में स्थिति पुरानी है, संवेदनाएं नई हैं। जैसा कि 'प्रस्तुतकर्त्ता की ओर से' कहा गया है, चरित्रों को आधुनिक वस्त्र पहनाकर 'उत्तर युद्ध' प्रस्तुत किया गया—'विदूषक चपरासी वस्त्रों में, युधिष्ठिर पढ़ा-लिखा, अर्जुन स्त्री के वेश में, भूमि बूचर, नकुल नर्त्तक और सहदेव हिप्पी के रूप में।' नाटक का विदूषक कहा जाने-वाला पात्र आज का है, एक स्थान पर कहता है—'अब खिलेगा फूल। अंग्रेजी का नहीं हिंदी का।' लगता है, नाटककार ने जान-बूझकर पौराणिक परिवेश की भ्रांति को तोड़ा है, और आधुनिकयुगीन अपने कथ्य की ओर दर्शकों का समग्र ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'उत्तर युद्ध' और 'यक्ष प्रश्न' में जो प्रश्न उठाए गए हैं, वे हमारे समय के हैं, और ये ऐसे प्रश्न हैं, जो नाटककार लाल के मन में बार-बार गूंजते रहे हैं। 'नरसिंह कथा' के प्रारंभ में एक पात्र के माध्यम से नाटककार ने कहा था—'हमारी तो आदत पड़ गई है पीछे भागने की।···वर्तमान का सामना नहीं कर सकते, तो फिर शुतुरमुर्ग की तरह अतीत के रोगिस्तान में मुंह गाड़कर···।' जीने के लिए जरूरी है कि आदमी अपने वर्तमान की समस्याओं का सामना करे। किसी भी संकट की घड़ी में या किसी भी आपात्काल में यह सत्य और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। 'यक्ष प्रश्न' में यही सत्य प्रारंभ से अंत तक ध्वनित-प्रतिध्वनित होता है—'वर्तमान को अपने समय का उत्तर देना होगा।···उत्तर भविष्य में नहीं, अभी, अभी वर्तमान में है।···जो अपने समय का उत्तर नहीं देता वह जिंदा रहने का अधिकारी नहीं।···जो अपने समय का स्वयं उत्तर नहीं देता, उसके लिए वह समय काल हो जाता है।' नाटककार ने इस नाटक के माध्यम

से महत्त्वपूर्ण सत्य सामने रखा, पर संभवतः प्रतिबंधित परिवेश ने समय के दाहक प्रश्नों को मूर्त नहीं होने दिया। 'उत्तर युद्ध' में द्रौपदी कोई सत्ता है जो आत्मविश्वास-हीन लोगों के बीच खड़ी है—उस सत्ता के कारण पांचों भाई आपस में बंटते हुए दिखाई पड़ते हैं, पर बाद में उन्हें अनुभव होता है—'युद्ध अनिवार्य है। युद्ध में सारे भाइयों को मिलकर एक होना होगा। एकता के लिए निष्ठा अनिवार्य है। द्रौपदी वही एकनिष्ठा है।' नाटक के अंत में लगता है कि दुःशासन द्रौपदी का अपहरण करता चला जा रहा है, और वह चीख रही है। वह चीख आज भी हमारे कानों में सुनाई पड़ती है—द्रौपदी की रक्षा शक्ति, एकता, निष्ठा, भक्ति और प्रेम से ही की जा सकती है। इन दोनों नाटकों में पर्याप्त सांकेतिकता—जितनी ही अधिक मूर्तता थी 'नरसिंह कथा' में, उतनी ही अमूर्तता है 'यक्ष प्रश्न' और 'उत्तर युद्ध' में। परिवेश किस प्रकार साहित्य में मिथक के प्रयोग एवं प्रयोजन को निर्दिष्ट करता है, इसे यहां देखा जा सकता है।

'कल्की' में डा० लाल के मिथक प्रयोग का एक नया रूप दिखाई पड़ता है। इसमें किसी प्रसिद्ध या परिचित पुराण कथा का आधार नहीं ग्रहण किया गया है। इसमें आदिम कथा की तरह लगनेवाले कुछ प्रसंगों के माध्यम से नाटककार ने अपने समय के आवेग और अनुभूति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि इसमें डा० लाल ने अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए एक नए मिथक की सृष्टि की कोशिश की है। नाटककार को लगा है, जैसे वह जो कुछ कहना चाहता है, उसे किसी परंपरागत पुराण कथा के सहारे नहीं कहा जा सकता, और वर्तमान परिवेश को आधार बनाकर कहने में कठिनाइयां हैं। इसलिए उसने एक काल्पनिक मिथक को अपना आधार बनाया है।

मिथक-जैसे कथा-प्रसंग को आधार बनाकर लिखे गए इस नाटक में लेखक ने कहना चाहा है कि हम किसी कल्की अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो आकर हमें शापमुक्त करेगा, कि हमारे शासकों ने इस कल्की अवतार की कल्पना की है जिससे लोगों को मूर्ख बनाकर वे अपना अस्तित्व बनाए रख सकें—ऐसा ही हर युग में होता रहा है; शासकों की बातों में आकर लोगों ने सोचना छोड़ दिया है, प्रश्न पूछना छोड़ दिया है, उनका संकट-बोध समाप्त हो गया है, अपने उद्धार के लिए वे स्वयं कुछ नहीं कर रहे हैं, वे शव हो गए हैं, और शासक शवसाधना करते जा रहे हैं। स्वयं नाटक-कार के शब्दों में, 'मध्ययुग में जो तंत्रसाधना के नाम पर शवसाधना थी, वही आज प्रजा-तंत्र के नाम पर मतगणना नहीं है क्या? शवसाधना कब पूरी मानी जाती है? जब औंधे पड़े हुए शव का मुख, उसकी पीठ पर लदे साधक की ओर घूम जाएगा और जब वह जीवित मनुष्य की भांति उससे बातें करेगा। क्या यह आज के राजनीतिक परिवेश में पड़े हुए मनुष्य के लिए सच नहीं है?' नाटककार का कथ्य नाटक से व्यंजित होता है, इसमें संदेह नहीं, फिर भी मुझे लगता है कि नाटक से अभिव्यक्ति और संप्रेषणीयता की जो प्रत्यक्षता अपेक्षित होती है, वह इस नाटक में बहुत प्रखर रूप में नहीं आ

पाती। जैसा कि नाटककार ने कहा है, 'कलंकी का सारा वातावरण जैसे किसी धार्मिक कर्मकांड जैसा है और इसका कथासूत्र है लोकगाथा जैसा। और इसका सुर-ताल-नाद-स्वर आदिवासियों के संगीत-सा।' कहने की आवश्यकता नहीं कि धार्मिक कर्मकांड हमारे जीवन का अभिन्न अंग नहीं रह गया है, लोकगाथा हमारे जीवन से दूर हो गई है, और संभवतः इसीसे नाटक का वातावरण हमारे जीवन के निकट का नहीं लगता—उसमें हमारी रुचि आश्चर्य, जिज्ञासा, कुतूहल आदि की अवश्य ही होती है। नाटक में जो वातावरण प्रस्तुत है, वह निश्चय ही रोचक है, आकर्षक है, लेकिन ऐसे रोचक-आकर्षक वातावरण में यह खतरा रहता है कि वह अधिक महत्त्वपूर्ण बनकर मुख्य कथ्य को गौण न बना दे—उससे हटाकर सबका ध्यान अपनी ओर न खींच ले। जब कोई रचनाकार अपनी विभिन्न रचनाओं में विभिन्न प्रकार के प्रयोग करता है, तब उपलब्धियों-अनुपलब्धियों की अनेक संभावनाएं हमेशा बनी रहती हैं। प्रयोगों की सार्थकता इन संभावनाओं में ही है। डा० लाल ने 'कलंकी' में कल्पित मिथक, लोक-तत्त्व, नृत्य, गीत आदि के जो अनेक प्रयोग किए हैं, वे निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

मिथक और आधुनिक जीवन का समन्वय

'नरसिंह कथा' में डा० लाल ने मिथक को आधुनिक जीवन से प्रत्यक्षतः जोड़ने का प्रयत्न किया है—दोनों इस बिंदु पर जुड़ते हैं कि नाटक के अभिनेता स्पष्टतः कहते हैं : हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा आज भी प्रासंगिक है। अभिनेता उस पुराकथा से केवल शब्दों के धरातल पर जुड़ते हैं। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में मिथक के प्रयोग की एक नई दिशा दीखती है जिसमें अभिनेता, जो आज के व्यक्ति के हैं, सत्य हरिश्चंद्र की पुराकथा से अनुभूति के धरातल पर अपने को जुड़ा हुआ अनुभव करते हैं। 'एक सत्य हरिश्चंद्र' एक साथ ही आज के लौका, देवधर, जीतन और गपोले की कथा है, पौराणिक कथा के हरिश्चंद्र, इंद्र, विश्वामित्र और नारद की भी कथा है। लगता है, जैसे इस नाटक में मिथक और आधुनिक जीवन एक साथ ही समन्वित हो गए हों।

'एक सत्य हरिश्चंद्र' में लौका और उसके उन साथियों की कहानी है जो तथाकथित निम्न वर्ग के हैं, हरिजन हैं, सदियों से धर्म और जाति-पांति के आधार पर शक्तिशाली लोगों द्वारा शोषित, पीड़ित, अपमानित होते रहे हैं। आज जब उनमें नई चेतना जन्म ले रही है, तो देवधर को लगता है कि उसका राजसिंहासन छीनने का प्रयत्न किया जा रहा है। देवधर नेता है, सत्ताधारी राजनीति का प्रतीक है, और इस नाटक में इसके नायक लौका द्वारा सत्यनारायण कथा कहने के लिए सत्य हरिश्चंद्र की जो नौटंकी कराई जाती है, उसमें वह इंद्र की भूमिका में आता है। लौका सदियों से दलित-शोषित-उत्पीड़ित जनसामान्य का प्रतिनिधि है—वह चरित्रवान है, सबका विश्वासपात्र है, लोगों पर उसका प्रभाव है। उसे अपनी और अपने वर्ग के लोगों की स्थिति का बोध होता है उसके भीतर नई चेतना सुगबुगाने लगती है, और तब देवधर

अनुभव करता है—'अगर इन लोगों ने सोचना शुरू कर दिया तो हम कहीं के नहीं रहेंगे। लोगों को भड़काकर हमारी बुनियाद ही उलट देना चाहता है।' विश्वामित्र बनने वाले जीतन से बड़े स्पष्ट शब्दों में देवधर कहता है—'लौका को सत्य की परीक्षा में डालकर बर्बाद कर दो।' सत्य हरिश्चंद्र की नौटंकी होती है जिसमें लौका हरिश्चंद्र बनता है। हरिश्चंद्र के साथ-साथ लौका को भी सत्य की परीक्षा में डाल दिया जाता है।

नौटकी के पात्र जब पुराकथा के चरित्रों की भूमिका में आते हैं, तब उन्हें चरित्रों के सत्य की अनुभूति होने लगती है। विश्वामित्र बननेवाला जीतन बार-बार कहता है—'जैसे-जैसे विश्वामित्र के चरित्र में बैठता जा रहा हूं, लगता है मैं अपने से आमने-सामने हो रहा हूं। मैं क्या हूं? लौका क्या है? आप क्या हैं? इसे देखने लगा हूं।···अंधेरे के पीछे जो सत्ता है, वह प्रकाश की है। यह अनुभव मैंने विश्वामित्र बनकर किया। लौका जब डोम के हाथों बिक रहा था, तब मैंने उसकी आंखों में देखा···। हम सब हरिश्चंद्र हैं तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में। वहां राजा इंद्र एक था, यहां राजा इंद्र असंख्य हैं—पुलिस अफसर, नेता, पूंजीपति, दलाल, गुंडा···यही है तुम्हारी राजनीति! वह अंधकार!···यह नाटक तुम्हारा बनाया हुआ है। सत्ताधारी राजा ने पंडित से कहा—धर्म का नाटक रचो। प्रजा सत्य की परीक्षा देती रहे। तुम बैठे मौज करो।' इंद्र की भूमिका में आनेवाला देवधर स्वयं कहता है—'जब तक हममें परीक्षा लेने की शक्ति है और जब तक तुम सब में परीक्षा देते रहने का धैर्य है, हम रहेंगे। सदा रहेंगे। रूप बदलते रहेंगे। जीतन और लौका बनकर आएंगे।' हरिश्चंद्र बननेवाला लौका अपने अनुभूत सत्य को वाणी देता है—'हरिश्चंद्र सदा अपने सत्य की परीक्षा देता रहे और तुम परीक्षा लेते रहो। मैंने इस नाटक में राजा बनकर देख लिया, जब तक तुम हो, हम केवल बनाए ही जा सकते हैं, अपने आप कुछ नहीं हो सकते। पर अब बनने और होने का मर्म हमें मिल गया। चुप रहना हमारा विरोध था। पर तुम उस भाषा को नहीं समझ सके। सत्ता है तुम्हारे पास, हम सब तुम्हारे हाथों के सिर्फ कठपुतले थे। यह सारा नाटक तुम्हारा रचा हुआ था और तुम्हीं इसके सूत्रधार थे। चलो। अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की।' तात्पर्य यह कि नाटक में आधुनिक युग के पात्र और पौराणिक कथा के चरित्र अनुभूति के स्तर पर एक हो गए हैं। यह मिथक की मात्र व्याख्या या पुनर्व्याख्या नहीं है, आधुनिक युग पर मिथक का या मिथक पर आधुनिक युग का आरोपण भी नहीं है, यह मिथक और आधुनिक युग का समीकरण है। इसने मिथक के अर्थ का विस्तार किया है, नए परिवेश में उसकी प्रासंगिकता और सार्थकता सिद्ध की है, और आधुनिक युगबोध को प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करने में योग दिया है। इससे निश्चय ही साहित्य में मिथक के उपयोग की एक महत्त्वपूर्ण दिशा का संकेत मिलता है।

अंतर्भूमि में मिथक

अपने निबंध 'पौराणिक प्रसंग और आधुनिक संवेदना' से एक अंश फिर उद्धृत

करना चाहता हूं—"कुछ रचनाकारों ने अपनी कृतियों में पौराणिक आख्यानों के उपयोग की यह पद्धति अपनाई है कि आख्यान रचना की अंतर्भूमि में काम करते हैं, रचना का बाह्य परिवेश आधुनिकयुगीन ही रहता है। इलियट के नाटक 'दि फैमिली रियुनियन' और ओनील के नाटक 'मोर्निंग बिकम्स इलेक्ट्रा' का बाह्य परिवेश आधुनिक है, पात्र भी सममामयिक हैं, पर इनके कथानकों की अंतर्भूमियों में यूनानी आख्यान प्रतिष्ठित हैं। ऐसी रचनाएं आधुनिक चेतना की अभिव्यक्ति तो करती ही हैं, दो धरातलों पर अर्थ देने की क्षमता भी रखती हैं। मुझे लगता है, पौराणिक प्रसंगों के उपयोग की यह एक सही दिशा हो सकती है।" यह प्रसन्नता की बात है कि डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'मिस्टर अभिमन्यु' पौराणिक प्रसंगों के ऐसे उपयोग की दृष्टि से हिंदी नाट्य क्षेत्र में पहली रचना तो है ही, सशक्त एवं प्रभावशाली भी है। इस नाटक का बाह्य परिवेश आधुनिक है, इसमें अभिमन्यु नाम का कोई पात्र भी नहीं है, कहीं किसी को अभिमन्यु कहा भी नहीं गया है, फिर भी आज के मेमर्स अभिमन्युओं के चरित्र की विडंबना बड़े मार्मिक रूप से व्यंजित हुई है। हजार बार 'अभिमन्यु' और 'चक्रव्यूह' शब्दों को दुहराने से जिस संवेदना की अनुभूति नहीं हो सकती, उसे 'मिस्टर अभिमन्यु' कहकर सहज ही व्यंजित कर दिया गया है।

नाटक के नाम से ही स्पष्ट है कि यह अभिमन्यु को लेकर नहीं, मिस्टर अभिमन्यु को लेकर है। पुराने पौराणिक संदर्भों और आज में कितना परिवर्तन हुआ है, चरित्र और मूल्य कितने बदले हैं, ये बातें स्वतः स्पष्ट हैं। कभी अभिमन्यु हुआ था जिसने धर्म के पक्ष की विजय के लिए चक्रव्यूह में प्रवेश किया था—वह उसे तोड़ नहीं सका, लड़ते-लड़ते मारा गया। यही उसकी विजय थी। लक्ष्मीनारायण लाल के इस नाटक में जो 'मिस्टर अभिमन्यु' है, वह समझता है कि आदर्शों की विजय के लिए वह चक्रव्यूह में प्रवेश कर रहा है या चक्रव्यूह में उसे घेर लिया गया है। जैसा कि वह समझता है, वह चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयत्न करता है—इस क्रम में वह नहीं मारा जाता, उसकी आत्मा मारी जाती है, वह तो जीवित रह जाता है। यह जीवित रह जाना मृत्यु से भी अधिक करुण है। आज के अभिमन्युओं की यही ट्रेजेडी है। डा० लाल ने उसे मिस्टर अभिमन्यु कहकर स्थितियों, चरित्रों एवं मूल्यों के त्रासद परिवर्तन को बड़े चुभते हुए ढंग से प्रस्तुत किया है।

इस नाटक के कथानक की संक्षिप्त रूपरेखा यह है कि एक ईमानदार और आदर्शवादी युवक राजन सरकारी नौकरी करता है - वह कलक्टर है। आज का हमारा भ्रष्टाचारग्रस्त समाज उसे चारों ओर से घेर लेता है। उसके जिले के बेईमान राजनीतिक नेता गयादत्त उपचुनाव में आदर्शवादी मजदूर नेता आत्मन को हराकर विजयी होते हैं। यह कहकर कि राजन ने उपचुनाव में गयादत्त की सहायता की है, उसकी तरक्की कर दी जाती है—उसे कमिश्नर का पद मिलता है। राजन को यह बात चुभती है, क्योंकि उसने चुनाव में कोई बेईमानी नहीं की थी। कमिश्नर उसे इसलिए भी बनाया जाता है कि अगले बड़े चुनाव में वह शासक दल के नेताओं की

सहायता करेगा। अपने संबंध में लोगों की ऐसी धारणाएं राजन को अच्छी नहीं लगतीं। वह त्यागपत्र देना चाहता है। वह कर्त्तव्यपरायण है—उसने पूंजीपति केजरीवाल से अनेक वर्षों से बाकी चले आते टैक्स को वसूलने में कडाई बरतने की कोशिश की है, लेकिन नेताओं और शासन के अधिकारियों के कारण उसकी यह कोशिश सफल नहीं हो पाती। राजन त्यागपत्र देना चाहता है, तो पत्नी विरोध करती है क्योंकि उसकी अपनी आशा-आकांक्षाएं हैं, बच्चों का भविष्य है; राजन के पिता भी विरोध करते हैं—वे आज के ज़माने के आदमी हैं, सफल वकील हैं। राजन त्यागपत्र नहीं दे पाता है—भीतर से भरा हुआ राजन अपनी तरक्की के उपलक्ष्य में आयोजित पार्टी में सम्मिलित होता है, सब लोगों से कहता है—'देखिए, मैं आप सबका हूं।' उसके जीवित रहते हुए भी उसकी ट्रैजिक मृत्यु हो जाती है। ट्रेजेडी जीवन के महत् प्रश्नों का सामना करती है, मात्र समसामयिक हल्की-फुल्की स्थितियों का चित्रण नहीं करती। इस दृष्टि से राजन की कहानी उच्च मूल्यों के लिए लड़ते हुए उस व्यक्ति की कहानी है जो पराजित हो जाता है। नाटककार ने विभिन्न प्रसंगों और संवादों के माध्यम से आज के अपने समाज की दुःखद स्थिति को, इसके जीवन के खोखलेपन को, इसकी भ्रष्ट राजनीति को कलात्मक रूप में व्यंजित किया है—कहीं भी कुछ आरोपित-जैसा नहीं लगता। नाटक के पात्र व्यक्ति के धरातल पर भी काम करते हैं, प्रतीक के धरातल पर भी। गयादत्त और आत्मन स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले मनुष्य भी हैं, और राजन के व्यक्तित्व के खंड भी। गयादत्त उसके उस सांसारिक व्यक्तित्व का प्रतीक है जो पद, सम्मान, ऐश्वर्य आदि के लिए कुछ भी कर सकता है। आत्मन उसके आत्मिक पक्ष का प्रतीक है जो आदर्शवादी है और ऊंचे मूल्यों में विश्वास करता है। नाटक में गयादत्त आत्मन की हत्या कर देता है। राजन स्वयं एक स्थल पर कहता है कि उसने स्वयं आत्मन की हत्या की है। स्पष्टतः उसने अपनी नहीं, अपनी आत्मा की हत्या की है। महाभारत का अभिमन्यु शरीर से मरकर आत्मा से जीवित रहा, मिस्टर अभिमन्यु आत्मा से मरकर शरीर से जीवित रहता है। अभिमन्यु के चरित्र को कथानक की अंतर्भूमि में रखकर आधुनिक युग की संवेदना को बड़े प्रभावशाली रूप में व्यंजित किया गया है, इसमें संदेह नहीं।

नाटककार लाल की मिथक यात्रा

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि डा० लक्ष्मीनारायण लाल की मिथक यात्रा एक अत्यंत सजग एवं प्रयोगशील नाटककार की सार्थक यात्रा है। नाटक में मिथक के उपयोग की दिशा में उन्होंने अनेक प्रयोग किए हैं, और इससे उनके नाटकों में पर्याप्त विविधता भी आई है, जीवंतता भी। उनके मिथक नाटकों के शिल्प पक्ष का स्पर्श इस संक्षिप्त निबंध में जानबूझकर नहीं किया गया है, वह अपने में एक स्वतंत्र विषय है, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि डा० लाल ने अपने नाटकों में संवेदना और स्वरूप के सामंजस्य को हमेशा बनाए रखा है—वस्तु-विन्यास, चरित्र-सृष्टि,

संवाद और भाषा, रंग-दृष्टि, सभी धरातलों पर। इन सबमें उनके रचनाकार की सजगता परिलक्षित होती है।

हिंदी नाट्येतिहास में डा० लाल के मिथक नाटकों का अपना विशिष्ट स्थान है, रहेगा। इनमें अपने समय की जो प्रखर चेतना है, मिथक को वर्तमान से जोड़ने वाली जो दृष्टि है, रचनात्मक स्तर पर जो प्रयोगशीलता है, वह इन्हें हिंदी के अन्यान्य मिथक नाटकों से अलग करती है। डा० लाल की यह मिथक नाट्य-यात्रा अभी जारी है, और इसमें अभी अनेकानेक संभावनाएं हैं।

लाल के नाटकों में पौराणिक संदर्भ

डा० दयाशंकर शुक्ल

लाल के नाटकों का विषय बड़ा ही गहन और विस्तृत है—सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक उद्देश्यों को लेकर लिखे गए उनके नाटकों में आज का व्यक्ति व परिवेश मूर्तिमंत हो उठा है। इन उद्देश्यों को व्यक्त करने की एक अत्यंत सशक्त शैली उनके पास है—मिथक शैली। इस 'मिथ' के परिप्रेक्ष्य के साथ वे आज के व्यक्ति, समाज और राजनीति की उन मूलभूत समस्याओं को नग्न रूप में ला खड़ा करने में सिद्धहस्त हैं जिनके मध्य आज का संपूर्ण परिवेश पिसता हुआ मुक्ति की तलाश में दम तोड़ रहा है। इस दृष्टि से उनके नाटकों में पौराणिक संदर्भों द्वारा आधुनिक जीवन मूल्यों का प्रश्न बड़े ही ज्वलंत रूप में सामने आता है। आज के व्यक्ति की पीड़ा और जीवन मूल्यों को जैसे लाल ने भोगा है—उन समाप्त होती हुई आस्थाओं को देखकर उनकी जीवन दृष्टि जैसे यथार्थोन्मुख हो उठी है। इस समाप्तप्राय आस्था को नाटकों के पौराणिक संदर्भ के माध्यम से दिखाकर लाल आज के मनुष्य को सर्वथा अनास्थावादी नहीं बना देना चाहते हैं प्रत्युत मनुष्य की इस अनास्था के पीछे छिपे कारणों का विवेचन-विश्लेषण कर वर्तमान के विघटित जीवन-मूल्यों के उत्थान का नवीन आह्वान भी करते हैं—"नहीं, कृष्ण अब अतीत है, वर्तमान अब तुम हो और वह प्रद्युम्न भविष्य है। सूर्यमुख है वह। उसने इस अंधकार में प्रेम का एक नया मन्वंतर प्रारंभ किया है।" ('सूर्यमुख,' पृ० 13, दृश्य 1, अंक 1)

लाल के नाटकों में पौराणिक संदर्भों के प्रयोगों के पीछे कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं। वे यह कि हमारी समकालीन समस्याएं चाहे वे राजनीतिक हों, सामाजिक हों अथवा नैतिक—सभी का हल हमारी ही परिस्थितियों में है, उन परिस्थितियों से उद्भूत इतिहास और पुराण में है। अपनी समस्याओं के समाधान के लिए पश्चिमी संदर्भों व जीवन दर्शनों का अनुकरण हमारी भ्रांत दृष्टि ही होगी। हमारा प्राचीन साहित्य—चाहे वह महाभारतयुगीन हो, बौद्धयुगीन हो या हर्षयुगीन—स्वयं में एक ऐसे प्रश्न और उसके समाधान को लिए चलता है जो केवल उस युग विशेष के ही लिए उपादेय नहीं प्रत्युत कालजयी और युगीन है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह कि शाश्वत है। इसलिए अपनी ही परिस्थितियों से उपजी समस्याएं जितनी सरलता से अपने ही पौराणिक

संदर्भों से सुलभ सकती हैं उतनी आयातित परंपरा के संदर्भों को हम पर थोप देने से नहीं।

यह स्वाभाविक भी है कि अपनी संस्कृति, सभ्यता और सामाजिकता के प्रति भारतीय दर्शक का सहज आकर्षण हो। इस स्थिति में जब वह अपने आसपास की परिस्थितियों को पौराणिक संदर्भों में देखता है तो वह सहज ही प्रभावित होता है। वह वर्तमान की मानवीय पीड़ा, तनाव, घुटन, सामाजिक दंश आदि को जब अतीत व आगतीत की ओर दृष्टि कर देखता है तो उसे ज्ञात होता है कि वहां भी वही सब कुछ घट रहा है जो आज के जीवन में है। ऐसी स्थिति में दर्शक समदुःखभोगी के रूप में सांत्वना पाता है। फिर वह इन विषमताओं के समाधान के लिए भी इन्हीं पौराणिक चरित्रों की ओर देखता है। वह देखता है कि समान परिस्थितियों में उसके पूज्य व आराध्य चरित्र कैसा निर्णय लेते हैं ? बस, उस निर्णय को मंच पर देखते ही दर्शक भी उसी के प्रति समर्पित हो जाता है और इस प्रकार संप्रेषण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। यही कारण है कि मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' सफल नाटक के रूप में समक्ष आते हैं। कालिदास और नंद का जो मानवगत द्वंद्वबोध और मनःस्थिति का आंतरिक दबाव है वही तो आज के मनुष्य का भी द्वंद्व है। कालिदास ने जैसे मल्लिका से अभ्यक्त रहकर एक प्रेमी के भावस्तर को पाया है, नंद ने जैसे 'चौराहे पर खड़े नंगे व्यक्ति' के रूप में जीवन को आध्यात्मिक मोड़ देकर 'दिशाओं द्वारा स्वयं को लील जाने' से रोका है—वही क्या आज के मनुष्य की नियति नहीं है, वही क्या आज के मनुष्य के लिए दिशा निर्देश नहीं है ? अपने ही पौराणिक संदर्भों में आज का मनुष्य अपनी दिशाएं पाता है।

हमारे नाटकों में 'मिथ' के प्रयोगों का एक और दृष्टिबिंदु है। आज के प्रश्नों के समाधान के लिए आज की परिस्थितियों से प्रतीक ग्रहण किए जाएं तो शायद वे अधिक प्रभावशाली व उपयुक्त नहीं होंगे। वस्तुतः परंपराओं से प्राप्त प्रतीकों में ही उत्कृष्ट अर्थवत्ता होती है। कारण यह कि वे जनमानस के मध्य रूढ़ि बनकर पैठे हुए हैं। इसीलिए नायिका की ग्रीवा की उपमा कोकाकोला की बोतल से पाकर कुछ क्षणों के लिए हम चमत्कृत भले ही हो जाएं, स्थाई रूप में प्रभावित कभी नहीं हो सकते। उस प्रभाव की व्यंजना तो 'सुराही' के सशक्त उपमान में ही है। यही 'मिथ' में प्रयुक्त पात्रों के साथ जुड़े प्रतीकों में भी है। व्यवस्थाओं, राजनीतिक परिस्थितियों के वात-चक्र में पड़ा एक ऐसा व्यक्ति जो स्वतंत्र निर्णय लेने में असमर्थ है—'अभिमन्यु' के प्रतीक के साथ बड़ा ही सटीक अर्थ देता है। और फिर उसके आगे 'मिस्टर' जोड़ देने से उस अभिमन्यु का समकालीन व्यंग्य और भी तीक्ष्ण हो जाता है। ऊंच-नीच, अच्छा-बुरा, जीवन-मृत्यु की सार्थकता का जो प्रश्न आद्य रंगाचार्य कृत 'सुनो जनमेजय' में उठाया गया

है, उसकी सार्थकता जनमेजय के नागयज्ञ के पौराणिक संदर्भ के साथ कितनी सामयिक सिद्ध होती है जहां तक्षक (ध्वंस और विप्लव का प्रतीक) की समाप्ति और परीक्षित (जो संपूर्ण मानवता का द्योतक है) की रक्षा के लिए जनमेजय (जो आज का वहीं ऊंच-नीच, अच्छे-बुरे, जीवन-मृत्यु के मध्य अपनी सार्थकता की खोज करते आदमी का प्रतीक है) यज्ञ संपन्न करता है। अपने समकालीन बोध जहां 'एटम बम' पर सारी मानवता का अस्तित्व-अनस्तित्व निहित है, के साथ यह नाटक 'अपनी बात' समझाने के लिए कितने सुंदर पौराणिक प्रतीक को समक्ष रखता है। यहीं नाटककार की इतिहास दृष्टि का औचित्य सिद्ध होता है। आज की अनपेक्षित परिस्थितियों के दंश को लक्ष्य करने के लिए साहित्यकार इतिहास, पुराण की ओर पीछे हटता है, वैसे ही जैसे कोई शिकारी लक्ष्यवेध के लिए पीछे पैर हटाकर निशाना बांधता है। नाटक में 'मिथ' के औचित्य को उक्त उदाहरण से बड़ी ही आसानी से समझा जा सकता है।

'मिथ' के सार्थक प्रयोगों की दिशा में लाल की अपनी विशिष्ट उपलब्धियां हैं। आधुनिक जीवन संदर्भों को समझकर एक शाश्वत अर्थ देने में उनके 'मिथ', प्रयुक्त नाटकों को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। 'सूर्यमुख,' 'कलंकी,' 'मिस्टर अभिमन्यु' 'एक सत्य हरिश्चंद्र', 'नरसिंह कथा', 'गुरु' व 'यक्ष प्रश्न' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें भारतीय पुराणों के उन संदर्भों को समाहित किया गया है जो युग-संक्रमण के बहुत बड़े कारण सिद्ध हुए थे। आज की, उन्हीं के अनुरूप उत्पन्न हुई संक्रमणकालीन परिस्थितियों में, हमारा क्या अभीष्ट है, इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें उन इतिहास खंडों पर दृष्टिपात करना चाहिए। 'सूर्यमुख' महाभारतोत्तर काल को हमारे समक्ष रखता है। द्वारिका में भगवान कृष्ण की मृत्यु के उपरांत एक नवीन पीढ़ी का जन्म हुआ था—साम्ब और बभ्रु की पीढ़ी—जो राज्य-लिप्सा में युद्धरत हो महाभारत से भी भीषण परिस्थितियां उत्पन्न कर रही थीं। इसी युद्धकाल में कृष्णपुत्र प्रद्युम्न के रति से जन्म-जन्मांतर प्रेम का भी उल्लेख प्राप्त होता है। भागवत पुराण में रति को प्रद्युम्न के समकालीन बता-कर भी उसकी पत्नी नहीं माना गया है। वस्तुतः रति को शम्बरासुर की पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है। इस असुर का रति से दांपत्य संबंध मात्र इतना ही था कि वह (रति) संभोग हेतु अपने तथाकथित पति की शैया पर स्वयं न जाकर अपनी छाया को भेजती थी। प्रद्युम्न ने आकाशवाणी से प्राप्त प्रेरणा से इस असुर का वध कर रति का वरण किया था। रति (जिसे नाटक में वेनुरती की संज्ञा दी गई है) कृष्ण की अंतिम पत्नी थी, ऐसा उल्लेख पुराणों में नहीं मिलता है। संभवतः अपने अभीष्ट मत —युद्ध के मध्य जीवंत प्रेम के उदाहरण के प्रतिपादन हेतु नाटककार ने पौराणिक संदर्भ की मौलिक व्याख्या की हो। जो भी हो, महाभारतोत्तर काल का चित्रण ही यहां नाटक की समस्त संवेदनाओं को समेटकर चलता है।

'कलंकी' में किसी पौराणिक कथाविशेष को वस्तुविधान का आधार नहीं बनाया गया है। केवल एक परिवेश है जिसे हम महात्मा बुद्ध के बाद के काल की संज्ञा दे सकते हैं। इस युग में तंत्र, मंत्र, अभिचार आदि समस्त जनजीवन में व्याप्त था। इस प्रकार यहां उस युग का चित्रण इस रूप में हुआ है कि एक समग्र युग चेतना सामने आ जाती है। अकुलक्षेम और अवधूत तत्समय की राजनीति और धर्म की अन्योन्यता का द्योतन करते हैं। यह राजनीति व धर्मनीति उस समय सारे राष्ट्र में व्याप्त थी। तंत्र विद्या समाज में धार्मिक कर्मकांड का रूप ले चुकी थी। ऐसी परिस्थितियों में जैसे राजनीतिक व धार्मिक निरंकुशता ने जन-साधारण की स्वतंत्रता पर अर्गला चढ़ा रखी थी। जनता की यही प्रश्नहीनता उस युग के सामाजिक दंश को प्रकट करती है, जिसे हम हेरूप की हत्या की करुण त्रासदी में देखते हैं।

'मिस्टर अभिमन्यु' का पौराणिक संदर्भ प्रतीक मात्र ही है। जहां 'सूर्यमुख' आदि में अन्योक्तिपरक कथा अपने युग के संदर्भ में आदि से अंत तक चलती है वहां 'मिस्टर अभिमन्यु' में 'मिथ' की ओर केवल एक दृष्टि निक्षेप है। यहीं 'मिथ' के प्रभाव विस्तार का बोध हमें होता है। पुराण से संपूर्ण कथा उठाकर अपने कथानक में आरोपित कर दी जाए, यही 'मिथ' की उपयोगिता नहीं है। पौराणिक कथा में ही नहीं, पौराणिक चरित्र में भी ऐसे व्यापक आधुनिक जीवन संदर्भ हैं जो समस्त नाटक को अपने अभीष्ट तक पहुंचाने में सफल सिद्ध होते हैं। 'मिथ' के ये ससीम व असीम प्रयोग लाल के नाटकों में समानधर्मी प्रभाव डालते हैं। 'मिस्टर अभिमन्यु' में अभिमन्यु का संदर्भ महाभारत के उस युद्धपर्व को समक्ष रख देता है जहां अर्जुन पुत्र अभिमन्यु शत्रु द्रोणाचार्य द्वारा रचे गए चक्रव्यूह के अंदर प्रवेश तो कर जाता है किन्तु पुनः बाहर आने की प्रक्रिया न जानने के परिणामस्वरूप अंदर ही कटकर मर जाता है। प्रसंग इतना-सा है लेकिन इस छोटे से प्रसंगांतर्गत कितने सारे प्रश्न अभिव्यक्ति के अवसर की तलाश में किलबिला रहे हैं—यह इस पौराणिक चरित्र में आधुनिक बोध के आरोपीकरण से जैसे सहज ही सरल हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक के प्रमुख पात्र राजन के रूप में चक्रव्यूह में घिरे अभिमन्यु की स्थिति का बोध होता है।

'एक सत्य हरिश्चंद्र' एक ऐसा ही अन्य सफल नाट्यकर्म है। हरिश्चंद्र की कथा भागवत व भागवेतर पुराण (हरिवंश पुराण इनमें प्रमुख है) से ली गई एक प्रख्यात कथा है। इसे लोक धर्म ने पूरी तरह आत्मसात कर लिया है। फलतः इस कथा में अनेक विसंगतियां हैं। भागवत में जिस हरिश्चंद्र की कथा है, उसका प्रस्तुत नाटक के लक्ष्य से मेल होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि लाल ने इसी कथा को अपने नाटक का आधार बनाया है। इसके बाद लोक श्रुतियों का प्रभाव लेने के कारण सहज ही उस कथा में भागवेतर प्रसंग भी शामिल हो गए। श्रीमद्भागवत के नवम् स्कंध के

सप्तम अध्याय में इस कथा में इक्ष्वाकु वंशोद्भव राजा हरिश्चंद्र द्वारा अपने वचन का पालन न करने का आख्यान आता है जिसमें अपने पुत्र रोहित के स्थान पर शुनःशेप की बलि देकर 'सत्य वचन' का पालन किया गया। यह वचन पालन न करने का स्वर ही एक क्रांतिकारी दर्शन का परिप्रेक्ष्य प्राप्त कर इस नाटक में व्यक्त हुआ है।

'नरसिंह कथा' नाटककार की एक अन्य महत्त्वपूर्ण पौराणिक दृष्टि है। यहां नरसिंह अवतार को सामयिकता के साथ लक्ष्य किया गया है। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के संबंध में ऐसा आख्यान है कि भगवान विष्णु के पार्षद जय-विजय को नारद ने उस समय असुर हो जाने का शाप दे दिया था जब उन्होंने मायानगर में वानर रूप लिए नारद को स्वयंवर सभा में बैठे देखकर उपहास किया था। जय-विजय ही अपने शापग्रस्त रूप मे हिरण्यकशिपु व हिरण्याक्ष के रूप में समक्ष आते हैं। इस हिरण्यकशिपु का निरंकुश शासन प्रह्लाद पर भी चलना चाहता है किंतु अंततः वह इसमें असफल सिद्ध होता है और नरसिंह द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है। नरसिंह कथा के इस प्रसिद्ध संदर्भ को लाल ने मौलिक अर्थ प्रदान किया है। इस दिशा में वे कितना सफल हुए हैं —यह विचारणीय है।

लाल के अधुनातम प्रकाशित लघु नाटक 'यक्ष प्रश्न' व 'उत्तर युद्ध' की पौराणिक भूमि महाभारत से ली गई है। निर्वासित पांडवों का द्रौपदी वरण, कुंती द्वारा परस्पर बांट लेने का आदेश, अंततः दुःशासन द्वारा द्रौपदी के चीरहरण किए जाने पर पांडवों का नपुंसक हो बैठे रहकर स्वयं से लड़ रहे इस 'उत्तर युद्ध' (पूर्वार्द्ध का युद्ध तो पांडव उस समय ही पूरा कर चुके जब महाभारत हुआ) की विडंबना ही इस नाटक का उल्लेखनीय कथ्य है। इस 'उत्तर युद्ध' में समय की विभीषिका पर मौन प्रश्न बने पांडवों की नियति (जिसे महाभारत में 'निर्वासन' के रूप में चित्रित किया गया है) ही आगे 'यक्ष प्रश्न' नाटक में बड़े ही आधुनिक मानवीय संदर्भों को लेकर अभिघटित हुई है। वस्तुतः 'उत्तर युद्ध' और 'यक्ष प्रश्न' एक ही प्रश्न पर दो सोपानों में एक व्यापक विवेचन है। आत्मनिर्वासन की अवस्था में पांडवों में एक साथ काल भय, धर्म भय, मृत्यु भय आदि आविष्ट हो चुके थे। इन्हीं के पीछे के कारणों को इन नाटकों में अभिव्यक्ति मिली है।

राजनीतिक व सामाजिक स्तर पर उनके नाटकों में एक ऐसे व्यक्ति की वेदना अभिव्यक्ति के प्रयास में है जिसका स्वर लोकतंत्रीय है और जीवन दृष्टि भी सामाजिक। शासक और शासित के चले आ रहे अनवरत संघर्ष और उसके परिणामों से वे परिचित हैं। इस अनिवार्य नियति को उन्होंने एक तटस्थ प्रेक्षक के रूप में पिछले अनेक वर्षों मे देखा है। निरंकुशता व अत्याचार के विरुद्ध लोकतंत्रीय संघर्षकरता यह मध्यवर्गीय बौद्धिक चेतना वाला व्यक्तित्व ही उनके नाटकों की बुनियाद है। इस संघर्ष मे उन्होंने अनेक बार सफलता भी पाई है—'नरसिंह कथा' व 'एक सत्य हरिश्चंद्र' की भांति, तो विफलता भी—'मिस्टर अभिमन्यु' की भांति।

'मिस्टर अभिमन्यु' इस संघर्ष की बड़ी ही करुण त्रासदी है। आज के लोक

संघर्ष की नींव व्यक्ति की
में ही कमजोर पड़ जाती है।
रह जाता है। यही राजनै
निश्चय ही आज वह महाभ
महाभारत का युद्धपर्व आज
क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' लड़ा गया था,
की अनुशासनबद्ध परिस्थिति
व्याप्त भ्रष्टाचारों के विरुद्ध
शाही इस समाज के मध्य
अभिमन्यु घिरे हुए हैं—बाहर
अभिमन्यु की-सी एक हारी हु

यहां अभिमन्यु के मि
भारत के अभिमन्यु की भांति
बाहर निकलना चाहता है?
था किंतु आज का अभिमन्यु
पीछे हमारी स्वातंत्र्योत्तर सम
बन हमारे सामने खड़ी है। ह
उठाता हुआ अधिकारी वर्ग अ
को तैयार हमारी व्यवस्था अ
उस व्यवस्था से बाहर न आ
है—चक्रव्यूह तोड़कर बाहर
द्वारा (कु) पोषित आज के ह
इस विकेंद्रित व्यवस्था का लाभ
देख सकते हैं। दो गुटों के मध्य
लाभ के लिए विभिन्न सैनिक
स्वार्थलिप्सा में फंसे व्यक्ति इ
बाहर आने का तात्पर्य चुनौतिय
बल की अनिवार्यता को स्वीका
ही जिसमें सुरक्षा भी है और सं
अभिमन्यु ही समाज में जीते हैं,
चार और नौकरशाही के कारण
प्रयास करने वाले, असुरक्षित जी
हैं। वस्तुतः अभिमन्यु का 'मिथक
देखकर अंदर ही अंदर घुटते भी
नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में

संघर्ष की नींव व्यक्ति की आत्मसुख प्राप्ति और आदर्शों के वितंडावाद खड़ा करने में ही कमजोर पड़ जाती है। फलतः शासन के विरुद्ध उसका संघर्ष अरण्य रोदन बनकर रह जाता है। यही राजनीतिक चक्रव्यूह में घिरे अभिमन्यु की वर्तमान नियति है। निश्चय ही आज वह महाभारत नहीं रहा किंतु कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में महाभारत का युद्धपर्व आज भी हमारे जीवन में जैसे विद्यमान है। वह युद्ध जो 'धर्म क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' लड़ा गया था, आज जैसे हमारे संपूर्ण समाज में लड़ा जा रहा है। आज की अनुशासनबद्ध परिस्थितियों के मध्य ही यह युद्ध शासन, राजनीति व समाज में व्याप्त भ्रष्टाचारों के विरुद्ध लड़ रहा है। व्यवस्था सुरक्षा, पुलिस, प्रशासन, नौकरशाही इस समाज के मध्य चल रहे महाभारत में रचे गए अनेक चक्रव्यूह हैं जिनमें अभिमन्यु घिरे हुए हैं—बाहर निकल आने के लिए एक लड़ाई लड़ रहे हैं—अर्जुन पुत्र अभिमन्यु की-सी एक हारी हुई लड़ाई।

यहां अभिमन्यु के मिथक में एक और भी संदर्भ है—प्रश्न है कि क्या महाभारत के अभिमन्यु की भांति वास्तव में आज की दुर्व्यवस्थाओं से घिरा अभिमन्यु बाहर निकलना चाहता है? महाभारत का अभिमन्यु सचमुच बाहर निकलना चाहता था किंतु आज का अभिमन्यु बाहर निकलने को ढोंग मात्र करता है—ऐसा क्यों? इसके पीछे हमारी स्वातंत्र्योत्तर समाज व्यवस्था उत्तरदायी है। यह व्यवस्था एक व्यापक प्रश्न बन हमारे सामने खड़ी है। हमारी राजनीति में व्याप्त नौकरशाही, एक-दूसरे से लाभ उठाता हुआ अधिकारी वर्ग और अवसर आने पर एक दूसरे का गला भी काट देने को तैयार हमारी व्यवस्था अभिमन्यु की मेंटेलिटी के जन्म का कारण बनती है लेकिन उस व्यवस्था से बाहर न आ पा सकने की स्थिति में वही अभिमन्यु 'मिस्टर' बन जाता है—चक्रव्यूह तोड़कर बाहर आने के आदर्श का आडंबर करता हुआ, स्वयं व्यवस्था द्वारा (कु) पोषित आज के हजारों 'राजन' यह हवाई लड़ाई लड़ते हुए भी तंत्र की इस विकेंद्रित व्यवस्था का लाभ उठा रहे हैं। यह व्यवस्था हम अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देख सकते हैं। दो गुटों के मध्य पिसते, अपने स्वातंत्र्य की दुहाई देते हुए भी स्वार्थ-लाभ के लिए विभिन्न सैनिक दुरभिसंधियों में फंसे राष्ट्र परमुखापेक्षी बने रहते हैं। स्वार्थलिप्सा में फंसे व्यक्ति इस दुर्व्यवस्था के शिकंजे से भला निकले भी क्यों? बाहर आने का तात्पर्य चुनौतियां स्वीकार करना है, जीवन संघर्ष में उतरना है, आत्म-बल की अनिवार्यता को स्वीकारना है। कौन लड़े? इससे भली तो अंदर की सुविधा ही जिसमें सुरक्षा भी है और संघर्ष से मुक्ति भी। सचमुच, राजन जैसे ऐसे मिस्टर अभिमन्यु ही समाज में जीते हैं, अपनी विपुल संख्या में वे ही समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और नौकरशाही के कारण है। चक्रव्यूह को तोड़कर और उसे तोड़ने का अनवरत प्रयास करने वाले, असुरक्षित जीवन जीने वाले वास्तविक अभिमन्यु बहुत कम मिलते हैं। वस्तुतः अभिमन्यु का 'मिथक' उन लोगों का है जो समाज में व्याप्त दोषों को देखकर अंदर ही अंदर घुटते भी हैं किंतु बाहर निकलने की चुनौती का सामना भी नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में उन्हें केवल भ्रांति ही होती है कि वे व्यूह तोड़ना चाहते

हैं और इस भ्रांति में पड़े वे अनिश्चय की लड़ाई लड़ते हैं। ऐसे व्यक्ति अभिमन्यु की भावभूमि में जीते अवश्य हैं किंतु उसके अनुरूप सच्चा संघर्ष नहीं करते। इसीलिए महाभारत के अभिमन्यु की दृढ़ संकल्प शक्ति के कारण उसकी हार भी जीत है जब कि आज के तथाकथित अभिमन्युओं की हार केवल हार है। आधुनिक संदर्भ में अभिमन्यु के 'मिथ' का प्रच्छन्न व्यंग्य कितना सटीक है—"खुद हारकर फिर अपने एक अंग से लड़ने का नाटक···सबसे अपने चारों ओर एक नकली लड़ाई का चक्रव्यूह।"

'सूर्यमुख' का आधुनिक जीवन संदर्भ, उसमें निहित समसामयिक बोध व्यक्ति और समाज के संघर्ष का एक अन्य कोण बिंदु है। जहां 'अभिमन्यु', 'महाभारत युग' की ही विडंबना को समक्ष करता है वहां 'सूर्यमुख' महाभारत से एक कदम आगे बढ़कर विचार करता है। इस रूप में 'सूर्यमुख' का संघर्ष अधिक कठिन प्रतीत होता है। यह नाटक स्थापित आदर्शों के विरुद्ध चुनौतीपूर्ण युद्ध को अपने युग के संदर्भ में विचार करता है। इस युद्ध के स्वरूप पर एक दृष्टिपात किया जाए—

महाभारत का युग दूसरे शब्दों में कृष्ण का युग था। इस युग में एक अभिनव क्रांति दर्शन की नींव रखी गई और उस नींव पर निरंकुश स्वतंत्रता का महल खड़ा किया गया। इस क्रांति के मूल में मर्यादाओं को तोड़ने का प्रयत्न था, स्थापित को चुनौती देने की क्रिया शक्ति थी। शायद इसी कारण कृष्ण ने गोपी-प्रणय किया और नारी को दांव पर लगाकर महाभारत को जन्म दिया। इसी मुक्त प्रणय की हवा जब कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न को वेनुरती की ओर बहा ले गई तो कृष्ण को वह पाप प्रतीत हुआ। क्यों? कृष्ण का गोपीप्रेम भागवत था या नहीं, यह विचारणीय प्रश्न है किंतु प्रद्युम्न-वेनुरती का प्रेम[1] अवश्य जीवनधर्मा (स्वयं नाटककार के शब्दों में) था। इस जीवंतता का प्रमाण प्रद्युम्न की लंबी निर्वासन अवधि और इस मध्य वेनुरती की एकनिष्ठता से सिद्ध होता है। स्वयं लाल द्वारा प्रद्युम्न और वेनुरती के चरित्र की स्थापना और पुराणों में प्राप्त कामदेव व रति का प्रसंग इस तथ्य को मजबूत करता है। जो भी हो, प्रद्युम्न व कृष्ण का संघर्ष दो पीढ़ियों की मान्यताओं का संघर्ष था—यही संघर्ष आज दो पीढ़ियों का संघर्ष है, स्वातंत्र्यपूर्व व स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ियों का द्वंद्व है, अधिक स्पष्ट शब्दों में वह युग संघर्ष है। इन द्वंद्वों के मध्य झूल रहा है हमारा वर्तमान जो हर युग में दिग्भ्रांत रहता है। वर्तमान की इस भ्रांत पीढ़ी के लिए ये द्वंद्व एक आह्वान हैं, संघर्षजीवी मानव सभ्यता को प्रेम व स्नेह के लिए एक नए मन्वंतर की स्थापना के लिए प्रेरणा है। महाभारतोत्तर चेतना आज के संदर्भ में

1. यद्यपि वेनुरती की ऐतिहासिकता या पौराणिकता पर संदेह है। पुराणों में प्रद्युम्न व रति के जन्म जन्मांतर प्रेम का उल्लेख अवश्य है।

बिलकुल सटीक बैठती है। मह
मानवता, अहिंसा, सत्य आदि
संग्राम मिलकर लड़ा किंतु उसक
अखंडता की रक्षा करने में अस
खेमों में बांट दिया, अलग-अलग
युद्ध —विभाजित स्वार्थों का युद्ध
इसी भ्रांति में भटकता हिंसा-अ
को खोजता आज का 'पशुनर'
है। 'सूर्यमुख' का 'जरा' आज
हो सकता है।

विप्लव, ध्वंस, विखर
विभीषिका की कल्पना कितनी
है। इस विभीषिका से मुक्ति
में डूबी भ्रांत वर्तमान पीढ़ी क
प्रद्युम्न और वेनुरती पूरा करते
होंगे।—"मेरे अमृत पुत्र! मैं
पर्वत के जिस शिखर से टूटी है
अंक 3) आत्मसाक्षात्कार द्वार
यही इस नाटक का भरत वाक्य
सामयिक संदर्भ अन्यत्र दुर्लभ है

आधुनिक जीवन संद
अलग महत्त्व है। यहां नाटक के
दिया है और हरिश्चंद्र के सत्य
आज राजनीतिक मंच पर दो स्प
कुशल और सर्वतोन्मुखी हितों क
अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देते
पर ये विभाजन अपने विकृत रू
शोषित, दंडित व अनुशासित
अधिकारों के प्रति विस्मृत जनता
जो हमेशा धर्म, राजनीति व रूढ़ि
देश की त्रस्त, दलित जनता इस
करती है। वह सत्य, समर्पण, त्य
करती रहती है। इस भोली ज
जाए तो बात अधिक स्पष्ट होग
अनुचित का भेद किए बिना सत

बिल्कुल सटीक बैठती है। महाभारत उस स्वातंत्र्य संग्राम का प्रतीक है जिसने हमें मानवता, अहिंसा, सत्य आदि की रक्षार्थ नवीन चेतना प्रदान की थी। हमने वह मुक्ति संग्राम मिलकर लड़ा किंतु उसका फल स्वतंत्रता के रूप में जब हमें मिला तो हम उसकी अखंडता की रक्षा करने में असमर्थ रहे। व्यक्तिगत स्वार्थ-लिप्सा ने हमें अलग-अलग खेमों में बांट दिया, अलग-अलग दलों में विभाजित कर दिया। और तब एक नया युद्ध—विभाजित स्वार्थों का युद्ध प्रारंभ हो गया। यही युद्ध कमोवेश आज विद्यमान है। इसी भ्रांति में भटकना हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, कृत्य-कुकृत्य में अपने जीवन मूल्यों को खोजता आज का 'पशुनर' है जो अपने ही सर्जनहारा की हत्या करता फिर रहा है। 'सूर्यमुख' का 'जरा' आज का भ्रांत गोड़से हो सकता है, कृष्ण कोई भी 'गांधी' हो सकता है।

विप्लव, ध्वंस, बिखराव की इस कालरात्रि के मध्य आनेवाले युग की विभीषिका की कल्पना कितनी भयावह हो सकती है—यह केवल विचारा ही जा सकता है। इस विभीषिका से मुक्ति दिलाने के लिए किसी सूर्य की आवश्यकता है जो अंधकार में डूबी भ्रांत वर्तमान पीढ़ी को उसका उपयुक्त मार्ग दिखा सके। यह कठिन कार्य प्रद्युम्न और वेनुरती पूरा करते हैं। ये ही आदर्श आनेवाली पीढ़ी की सही दिशा होंगे।—"मेरे अमृत पुत्र! मैं तुझे इसी शिशु से जीवित रखूंगी। तेरी जययात्रा पर्वत के जिस शिखर से टूटी है वहीं से अब यह यात्रा प्रारंभ होगी।" (पृ० 122, अंक 3) आत्मसाक्षात्कार द्वारा आने वाली पीढ़ी युग को एक नया प्रारंभ देगी। यही इस नाटक का भरत वाक्य है। पौराणिक कथानक व चरित्र का इतना सुंदर सामयिक संदर्भ अन्यत्र दुर्लभ है।

आधुनिक जीवन संदर्भों को प्रकट करने में 'एक सत्य हरिश्चंद्र' का अपना अलग महत्त्व है। यहां नाटक के अंत में पौराणिक संदर्भों को बिल्कुल उलटकर रख दिया है और हरिश्चंद्र के सत्यवादी चरित्र को क्रांतिमूलक रूप में प्रकट किया है। आज राजनीतिक मंच पर दो स्पष्ट जातिगत विभाजन दिखाई देते हैं। यदि प्रशासन कुशल और सर्वलोन्मुखी हितों को प्रश्रय देने वाला होता है तो ये विभाजन एकमेक हो अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देते हैं। दूसरी ओर, प्रशासनिक नीतियों के पूर्वाग्रही होने पर ये विभाजन अपने विकृत रूप में समक्ष आते हैं। एक वर्ग वह है जो सदियों से शोषित, दंडित व अनुशासित होता आया है। यह वर्ग देश की भोलीभाली अपने अधिकारों के प्रति विस्मृत जनता के रूप में लक्ष्य किया जा सकता है। दूसरा वर्ग वह है जो हमेशा धर्म, राजनीति व रूढ़ियों की नंगी तलवार लिए जनता पर खड़ा रहता है। देश की त्रस्त, दलित जनता इस स्थिति को भाग्य का खेल मानकर चुपचाप सहन करती है। वह सत्य, समर्पण, त्याग, सेवा के पवित्र भावों से अपना कर्त्तव्य निर्वाह भर करती रहती है। इस भोली जनता का सत्यवादी हरिश्चंद्र के 'मिथ' के साथ देखा जाए तो बात अधिक स्पष्ट होगी। हरिश्चंद्र ने प्रश्न व तर्कों को अलग रख उचित-अनुचित का भेद किए बिना सत्य की रक्षार्थ स्वयं को बेच दिया—बिना स्वयं पर हो

रहे शोषण की अनुभूति के। इस समर्पण का पारितोषिक हरिश्चंद्र को स्वर्गलाभ के रूप में प्राप्त हुआ था।—"हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाण सुख संविदा ॥27॥ (श्रीमद् भागवत, स्कंध 9, अध्याय 7) आज उसी आदर्श का पाठ हर शोषक अपने शोषित को पढ़ाता है—इसलिए कि आज का हर 'हरिश्चंद्र' सत्य, आदर्श व धर्म की रक्षा में स्वयं को समाप्त कर बैठा और हर इंद्र युग-युग तक इस धरती पर राज्य करता रहे। कितना भयावह षड्यंत्र है यह। प्रशासन ऐसे ही हवाई आदर्शों के प्रति जनता को प्रोत्साहित करता हुआ स्वयं को सुरक्षित बनाए हुए है। शोषक के इन शब्दजालों के प्रति हमें विद्रोह का स्वर खड़ा करना चाहिए। यही नहीं, हरिश्चंद्र को नया संदर्भ प्रदान करना चाहिए। नाटक का पात्र लोका ऐसा ही नया और वस्तुतः सत्य हरिश्चंद्र है जो जन भ्रांति के पर्दे को उठाकर 'स्वर्ग' का पारितोषिक प्रदान करनेवाले इंद्र का सही अक्स दिखाता है—"नहीं चाहिए मुझे झूठा स्वर्ग। मैं मरूंगा इसी धरती पर सबके साथ। हर समय तूने हमें बेचा है झूठे शब्दों के बाज़ार में स्वर्ग का लालच दिखा के।" (पृ० 76, दृश्य 7) पौराणिक पात्रों और कथाओं को अपनी मौलिक भावभूमि के साथ प्रस्तुत करना लाल की लाक्षणिक विशेषता है।

'कलंकी' हमारी अकर्मण्यता और मुचकुंद वाली मोहनिद्रा के विरुद्ध एक आह्वान है। यहां व्यक्ति और उसके द्वारा संपूर्ण परिवेश के आत्मसाक्षात्कार को नया संदर्भ प्रदान किया गया है। यह साक्षात्कार चूंकि व्यक्ति और समाज दोनों का है, अतः वह एक व्यापक जीवन यथार्थ को समक्ष रखता है। इस यथार्थ का संबंध हमारी अंध आस्थाओं के प्रकटीकरण और वर्तमान राजनीतिक व सामाजिक दंश से पीड़ित मनुष्य की उस दयनीय अवस्था से है जिसमें वह यह विचार कर अकर्मण्य पड़ा रहता है कि कोई दैवी शक्ति ही आकर उसे इस अवस्था से मुक्त कराएगी। इन्हीं स्थितियों के चित्रण के लिए मध्ययुगीन चेतना को समक्ष रख कलंकी अवतार के 'मिथ' को समक्ष रखा गया है।

यहां अकुलक्षेम यथास्थितिवादी वर्तमान के किसी भी शासक वर्ग का प्रतीक है। उसके राज्य में प्रश्न वर्जित है—जो कुछ हो रहा है उसे बिना तर्क किए स्वीकार कर लेना ही जनता का कर्त्तव्य है। तानाशाह या अराजक राज्यों में आज यही स्थिति है। इस निरंकुश स्थिति में तर्क करने वाले की क्या स्थिति होती है—यह नाटक में हेरूप की अवस्था से स्पष्ट है—फिर वह शासक का पुत्र ही क्यों न हो? प्रश्न करने की स्थिति ही न उत्पन्न हो, इसके लिए हमारे युवकों को इसी शैली की शिक्षा दी जाती है। (शिक्षा पद्धति के स्वरूप पर यह नाटककार की अपनी मान्यता है) विक्रमविहार ऐसे ही शिक्षा संस्थानों का प्रतीक है जहां पुस्तकीय शिक्षा द्वारा विद्यार्थी की क्षमता की उपेक्षा करके उसे अनुकरणगामी बनाया जाता है। इस संपूर्ण 'तंत्र' से विरोध करने वाला अधिकारच्युत ही नहीं, मार दिया जाता है। हेरूप का करुण अंत इस तथ्य का प्रमाण है। इस संपूर्ण मृत क्रियाशक्ति के मध्य जनशक्ति की स्थिति —? जनता अकुलक्षेम को समाप्त करने में असमर्थ रहती है, कारण वह उसी का प्रतिरूप है।

बोध जगा सकते हैं। आज के 'नर' या 'पशु' को जीवन मूल्यों के प्रति सचेष्ट करना ही युग धर्म है—"मूल्यहीन शक्ति ही पशु है। मूल्यों से जुड़कर मनुष्य नरसिंह बनता है। निरंकुश राजा को अगर कोई एक मनुष्य मारेगा तो वह भी उस सिंहासन पर बैठ जाएगा। नहीं, इस सिंहासन के विनाश के भीतर से एक नया प्रजातंत्र उपजे—इसके लिए अनिवार्य है, मनुष्य और पशु सारी शक्तियां एकाकार हों।"[1] आज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मूल्यों के अभाव में राजनीतिक मंच पर जो सत्तायुद्ध चल रहा है और जिसके कारण प्रजातंत्र, समाजवाद और साम्यवाद का मुखौटा चढ़ाए जो निरंकुश सत्ताएं जन्म ले रही हैं, उन्हें समाप्त करने के लिए 'नरसिंह अवतार' नितांत आवश्यक है। नाटककार का लोकतंत्रीय स्वर हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के निम्नांकित संवाद से उभरकर आता है—

हिरण्यकशिपु : स्वराज्य एक जानवर है।

प्रह्लाद : जीवित प्राणी कहीं जन्म लेता है, इसी घटना मात्र से वह स्थान उसका नहीं हो जाता। मनुष्य अपने स्थान, अपने देश की स्वयं सृष्टि करता है।

हिरण्यकशिपु : स्वराज्य जंगल का राज्य है।

प्रह्लाद : देश के अनिष्ट से हर व्यक्ति को जो उस देश में है, जब तक अनिष्ट बोध नहीं होता तब तक स्वराज्य नहीं है।

हिरण्यकशिपु : ऋक्ष देश में स्वराज्य नहीं था। गणतंत्र के नाम पर जीवन का विध्वंस था।

प्रह्लाद : उसी विध्वंस से तुम्हारा उदय हुआ।[2]

निस्संदेह 'नरसिंह कथा' पौराणिक आख्यान का बड़ा ही चुभता हुआ आधुनिक जीवन संदर्भ है।

लाल का सद्यःप्रकाशित 'यक्ष प्रश्न : उत्तर युद्ध' अपने कलेवर में जितना ही लघु है, प्रभाव क्षेत्र में उतना ही विस्तृत है। यक्ष, द्रौपदी और पांडव—ये तीनों आज की परिस्थितियों में तीन जीवन आयामों को प्रकट करने वाले पात्र हैं। द्रौपदी यहां शक्ति रूपा है जो पांचों पांडवों को एक सूत्र में बांधकर युद्धप्रेरित करती है। यह युद्ध प्रथम स्वयं (आत्म) से है और फिर दूसरों (पर जिसे समाज की संज्ञा भी दी जा सकती है) से। स्वयं से यह युद्ध इसलिए है क्योंकि पांडव उस शक्ति को खंड-खंड करके देखना चाहते हैं। निश्चय ही हमारा खंडित व्यक्तित्व यहां उभरकर सामने आता है। अपने इसी व्यक्तित्व के कारण हमारी जीवन दृष्टि अपूर्ण होती है, शक्ति को खंड करके ही हम अपनाना चाहते हैं (आज भी हमारी राष्ट्रीय शक्ति छिन्न-भिन्नता के स्थान पर ऐक्य की आकांक्षी है) जब हमारी शक्ति को खंड-खंड कर देखने वाली

1 नरसिंह कथा, पृ० 155, दृश्य 1, अंक 4
2. वही, पृ० 112, दृश्य 5, अंक 2

दृष्टि एक सार्वभौमिक महाशक्ति के रूप में संघटित हो जाएगी तो वह अपने सामने के शत्रु से युद्ध करने में सक्षम हो सकेगी—वह शत्रु जो हमारी शक्ति को छिन्न-भिन्न देखना चाहता है। 'उत्तर युद्ध' में यह शत्रु दुःशासन है जो द्रौपदी का चीर हरण कर लेना चाहता है। आज शक्ति संगठन ही युग की मांग है, समय की 'प्यास' है। यह प्यास तब ही बुझ सकती है जब हम समय की मांग को समझें। समय शक्ति की एकता चाहता है। इसके अभाव में युधिष्ठिर के अतिरिक्त सभी भाई अहं के कारण समय के सामने विजित होते हैं। आज भी जो युधिष्ठिर की भांति समय की सीमाओं और आवश्यकताओं को समझकर अपनी शक्ति को संचयित करता है, वह स्वयं कालजयी बनकर दूसरों का भी कल्याण करता है। युधिष्ठिर उसी संगठित शक्ति का प्रतीक है। इस संगठन के अभाव में हमारी शक्ति का उपभोग शत्रु करता है। 'उत्तर युद्ध' में द्रौपदी का दुःशासन द्वारा हरण इस तथ्य को प्रमाणित करता है। वस्तुतः 'उत्तर युद्ध' में शक्ति के बिखराव का प्रश्न समक्ष रख उसका समाधान 'यक्ष प्रश्न' में किया गया है। इस दृष्टि से ये दोनों स्वतंत्र नाट्य चिंतन होने पर भी पूरक हैं। स्वयं नाटकों की भूमिका के अनुसार एक 'स्थायी' और दूसरा 'अंतरा' है—'अंतरा' पहले और 'स्थायी' बाद में।

'यक्ष प्रश्न' नाटककार का आज की संगठित शक्ति के बिखराव के कारणों और उसके परिणामों पर आधारित एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

लाल के नाटकों में 'मिथ' के ये प्रयोग जिस प्रभावभूमि की स्थापना करते हैं, वह दर्शक की आस्थाओं को नया मूल्य प्रदान करती है। इस प्रकार ये नाटक जीवन मूल्यों की रक्षा और नई व्याख्या के लिए लिखे गए प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं ये व्याख्याएं अतिरंजित-सी हो गई प्रतीत होती हैं। लगता है कि वे हमारी आस्थाओं के स्थापित मूल्यों की बुनियाद पर ही आघात कर रही हैं। 'सूर्यमुख' इस दृष्टि से आलोच्य कृति कही जा सकती है। कृष्ण की कुंठा, वेनुरती का कृष्ण-पत्नी होना और फिर प्रद्युम्न से प्रेम करना, गीता के निष्काम कर्मयोग और वैराग्य उपदेश को कृष्ण की वेनुरती से टूटन की संज्ञा देना—कतिपय ऐसे प्रसंग हैं जो दर्शकों की आस्था पर गहरा आघात करते हैं। वे उन स्थापित मूल्यों को समूल उखाड़ फेंकने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने वाले हैं।

लाल का अद्योपम रंगकर्म और उसके ये पौराणिक संदर्भ आधुनिक बोध को प्रकट करने वाले सशक्त आयाम हैं। आज दिग्भ्रमित, अंधकार में डूबी पीढ़ी को ये नाटक संजीवन प्रदान कर आत्म व परसाक्षात्कार का शुभ प्रभात प्रदान करते हैं।

तीसरा आयाम

कथाकार

आंतरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रश्न : मन वृंदावन

डा० विनय

समकालीन कथा साहित्य में लक्ष्मीनारायण लाल का योगदान गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से चर्चा का विषय बना रहा है। उनके लेखन को पसंद करने वाले भी अनेक मिल जाते हैं, नापसंद करने वाले भी। डा० लाल के उपन्यासों पर अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं के बीच यह जान लेना कठिन नहीं है कि उनके पाठकों-समीक्षकों ने 'मन वृंदावन' को उनकी श्रेष्ठ कृति माना और कथ्य तथा शिल्प दोनों दृष्टियों से उसके रचनात्मक आवेग की सराहना की। उस समय इस उपन्यास में आए प्रेम, समर्पण, त्याग जैसे हमेशा से आ रहे, प्रिय और सर्व-प्रयुक्त विषयों के प्रस्तुतीकरण की नई भंगिमा को लेकर पर्याप्त अनुकूल बातें कहीं गई थीं। होता यह है कि लेखक अपने अनुभव को जीवन के विभिन्न स्तरों पर जीता है फिर अपने भीतर उसका रचनात्मक आधार पर-साक्षात्कार करता है। अपने ही जिए हुए अनुभव का स्वयं साक्षात्कार करना, रचना-प्रक्रिया की मूल भंगिमा से जुड़ा होता है। लेकिन, लेखक का जिया हुआ अनुभव जब व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रचना का रूप लेने की प्रक्रिया में होता है तो कुछ प्रश्न, समस्याएं भी सामने आती हैं, और तभी लेखक अनायास अनुभव के रचनात्मक विधान की प्रक्रिया में शिल्प का चुनाव करता है। यह चुनाव इस बात का द्योतक होता है कि लेखक अपनी बात को किस दृष्टि से समझाना चाहता है।

'मन वृंदावन' में अनुभव को रचना के स्तर पर सृजित करने के लिए ऐतिहासिक-पौराणिक स्थल 'वृंदावन' और शाश्वत चेतना प्रवाह के रूप में 'मन' का प्रयोग एक मिथकीय प्रयोग न होकर मिथ का निर्माण है। प्रस्तुत मिथ की रूपात्मकता समय की निरंतरता और तात्कालिकता के द्वंद्व से न उभरकर दोनों की समांतरता में उभरी है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसमें द्वंद्व है नहीं। द्वंद्व है, किंतु वह एक दूसरे चेतना प्रवाह को काटकर कुछ पाने की स्थिति में न होकर, एक दूसरे को जोड़ता हुआ, कालातीत में ही कालखंड को व्यक्त करता है। उपन्यास का प्रारंभिक

वाक्य—जब कृष्ण नहीं रहे, तब से यह प्रणय कथा शुरू होती है। जब अकेली राधा ने एक दिन अपने उस वृंदावन से कहा था कि अब वृंदावन तू नहीं, मेरा मन है : इसके बाद से यह प्रेम कथा शुरू होती है—लेखक के रचनात्मक मंतव्य को ही स्पष्ट नहीं करता अपितु कथ्य पर उसके कथा शैली विषयक आग्रह को भी सशक्त रूप में व्यक्त करता है। दरअसल यह कथा शैली—जिसमें लेखक आद्योपांत ब्रज के चौरासी कोस के भूगोल को केंद्र में रखकर तात्कालिक प्रेम कथा कहता है—रचना की अंतर्वस्तु को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करने की खोज की है, जिसे मैंने प्रारंभ में नई भंगिमा कहा है। यही कारण है कि 'मन वृंदावन' की सामान्य प्रेमकथा अपने अर्थ में विशिष्ट हो जाती है और उससे मानव अस्तित्व, अस्मिता, पहचान आदि अनेक बातें जुड़ जाती हैं।

लेखक ने प्रारंभ में बरसाने से यमुना के कछारों तक, वृंदावन से महारास भूमि तक—उपन्यास की यात्रा के पूर्व···अनेक ऐतिहासिक यात्राओं का उल्लेख किया है। इनकी उपयोगिता क्या केवल 'मिथकीय एप्रोच' में है या उपन्यास की कथा से इसका कोई सीधा संबंध है ? इस पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि पूर्ववर्ती यात्राओं का उल्लेख उपन्यास की मूल संवेदना को समझने में सहायक होता है। अर्थात् अनेक ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, भौगोलिक परिवर्तनों से मनुष्य का बहिर्वर्ती जीवन गुणात्मक रूप से बदलता है—किंतु अंतर्मन की स्थितियां, समस्याएं, प्रश्न, जिज्ञासाएं नहीं बदलतीं, या कहना चाहिए कि वे कालनिरपेक्ष होकर व्यक्ति को मथती रहती हैं। बुद्ध और आम्रपाली अपने युग के साथ जिस प्रेम को जीकर देखना चाहते थे—उसके लिए उन्होंने इस प्रेमभूमि (ब्रजभूमि) की यात्रा की···और आज सुबंधु तथा हिरनमयी उसी सत्य को समझने के लिए इस प्रेमभूमि में अनायास मिल गए हैं।

'मन वृंदावन' एक प्रेम कथात्मक उपन्यास है। उसकी संपूर्ण वैचारिकता प्रेम से 'आउटफ्लो' करने वाले जीवन की सार्थकता का प्रश्न उपस्थित करती है। व्यक्ति के जीवन में अनेक बातें महत्त्वपूर्ण हैं, उसकी सामाजिकता, राजनैतिक चेतना, प्रतिबद्धता·· लेकिन इन सबके साथ या इन सबसे अलग उसका एक अंतर्वर्ती पक्ष है, जिसका मूल है 'प्रेम'। उपन्यास में इस 'प्रेम' को एक जिज्ञासा, एक समस्या, एक तलाश के रूप में उभारा गया है···जिसका मूल वाक्य है—"जो नहीं प्राप्त है, जो नहीं प्राप्त हो सकता, उसे तो सभी प्यार करते हैं···जो प्राप्त है, मिल चुका है, सामने है, जो उसे कोई उसी तरह प्यार करे तो जानूं।" (पृ० 154) इस भाव के अनेक खंड हैं, अनेक स्तर हैं जो उपन्यास में भिन्न पात्रों द्वारा, भिन्न रूपों में प्रस्तुत किए गए हैं और इस सर्वग्रासी समस्या के कई पहलू उभरते हैं :

हिरन कहती है—देने के लिए सिर्फ दे देना, यह कैसी सार्थकता है। या "चरित्रहीन होकर ही चरित्र जाना जा सकता है। पर प्रेमहीन होकर इस जीवन को नहीं जाना जा सकता।" और 'प्रेम' एक भाव होकर भी जीवन के प्रसंग में एक

आचरण भी है, जिसका अपना विधान है। हिरन कहती है—"समान से समान का जब प्रेम मिले तो वहां प्रेम संपूर्ण होता है···बड़ा होता है···नहीं तो वह महज स्नेह है, दया है, सहानुभूति है।"

हिरन के साथ एक पक्ष सुगन का भी है। वह धर्मयात्रा और प्रेमयात्रा में कोई अंतर नहीं कर पाती, उसके लिए प्रेम की अनुभूति धार्मिक अनुभूति के समान है। वहां "कोई शर्त नहीं···कोई···विकल्प नहीं, और कोई अन्य भाव नहीं।" यही कारण है कि वह प्रेम को अन्य सभी सामाजिक बंधनों से आगे की चीज मानती है। वह कहती है—"पातिव्रत्य का अर्थ है एकनिष्ठता···पर इस एकनिष्ठता से आगे भी कुछ है।"···वस्तुतः 'मन वृंदावन' के ये वाक्य प्रेम की व्याख्या न करके प्रेम-दर्शन का विश्लेषण करते हैं और परंपरित नैतिकता तथा आत्मगर्भित नैतिकता का प्रश्न उठाते सामान्य को विशिष्ट बना देते हैं। इस उपन्यास की यही वैचारिकता प्रेमाध्यात्म की प्रतिष्ठा करती है जहां अनेक परंपरित तर्क अपना अर्थ खोकर नए अभिप्रेत की सृष्टि करते हैं।

प्रेमकथा को प्रेम दर्शन की कथा बनाकर प्रस्तुत करना ही इस उपन्यास की विशेषता है। परंपरा से चले आ रहे ऐसे विषय को जिसमें व्याख्या के लिए बहुत कुछ शेष नहीं रहा, डा० लाल ने नई संवेदनात्मक भूमि दी है। यह नई संवेदनात्मक भूमि इसलिए है कि इसमें प्राप्त और प्राप्य, अतीत और वर्तमान के द्वंद्व पर सार्थकता की खोज का मानसिक अभियान है। सुबंधु प्रेम की प्राप्य अनुभूति को जो कहीं उसका अतीत बन चुकी है—प्राप्त अनुभूति की टकराहट से अपने भीतर की वास्तविकता को जानने का अवसर पाता है। यही स्थिति हिरन और सुगन की है। ये तीनों जानने, भोगने, पाने और देने की मानसिकता में सार्थकता की तलाश के स्तर पर एक त्रिकोण बनाते हैं। तीनों के पास अपना-अपना अतीत और वर्तमान भी यात्रा में उभरी स्थितियां हैं। टकराहटें हैं। नैतिक बोध है। चिंतन की गरिमा और आचरण का भावन है। और इस सब कुछ के होते हुए किसी अन्य भाव की खोज, किसी अर्थ की तलाश जिससे वे सब अभाव से उबरकर भाव की वास्तविक भूमि पर अपने को पा सकें।

डा० लाल ने उपन्यास की मूल संवेदना को कई पात्रों की चिंतन प्रक्रिया से जोड़कर उसे भिन्न मानसिकता के स्तर पर व्यंजित किया है।···उसमें पतितराम की सोच का एक दृष्टिकोण है, एक है हिरन और सुगन की दृष्टि। एक दृष्टि सुबंधु की है। बीच में विधवा ब्राह्मणी जैजैवंती और रमोली भी है। और मूल पृष्ठ से हटकर हाशिए पर लुंजू पटेल, स्मृति में सुबंधु की मां तथा पृष्ठभूमि में हिंदू-मुस्लिम दंगे, शरणार्थी, क्रांतिकारी···भी प्रसंगवशात् आते हैं। सुबंधु की जीवन-यात्रा विचित्र, विलक्षण स्थितियों से प्रारंभ होती है। वह दो के बीच में माध्यम, सेतु के रूप में तीसरा व्यक्ति बनकर अपनी यात्रा प्रारंभ करता है, कि मानसिक ऊहापोह के बाद या कुछ स्थितियों के आग्रह के कारण स्वयं सामने आ जाता है और तीसरे से दूसरा

बनना चाहता है। यहीं से उसकी अपनी तलाश प्रारंभ होती है। वह बार-बार पाकर भी खोने की नियति स्वीकारता है। वह संवेदनशील है किंतु सक्रिय और बौद्धिक नहीं। सक्रियता के अभाव में वह कोई भी कारगर कदम नहीं उठा पाता। बौद्धिकता की कमी के कारण स्थितियों को अपने अनुकूल नहीं कर पाता। वह मध्यवर्गीय एकांत मानसिकता से ग्रसित है, श्रम के महत्त्व को न पहचानकर एक अजीब भावनात्मक दुनिया में रहनेवाला प्राणी। वह अपने रागात्मक लगाव को 'हिरन दी' से शुरू करके 'हिन' तक पहुंचता है। और फिर शुरू होती है—उसकी अंतर्यात्रा।

जाने या अनजाने 'मन वृंदावन' में लेखक एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करता है। यह एक बात ऐसी है जो आद्योपांत पाठक को 'हांट' करती है। वह बात है—वास्तविक जीवन धर्म की कर्मशीलता को न समझकर एक बायवी भावनात्मकता में सत्य का सामना करने की अशक्तता अर्थात् सत्य की वास्तविक पहचान कार्यशीलता में है। उससे भागकर मनुष्य एक ऐसे सत्य के पीछे भागता है जो कहीं भी ठोस नहीं है···अपने रूप और आकार में नहीं, अपने तत्त्व में···और जहां तत्त्व नहीं वहां प्राप्ति संभव नहीं हो सकती, अतः ऐसा व्यक्ति निरंतर एक अभाव के दर्शन के भ्रम में जीता है। बल्कि कहना चाहिए जीता नहीं···केवल जीवित रहने का भ्रम पालता है। सुबंधु के जीवन का अभाव इसी तत्त्व का अभाव है। हिरनमयी जहां इस 'तत्त्व' की आंशिक रेखा को पाकर पूर्णता के लिए उसका अतिक्रमण करती हैं, वहां सुबंधु उसके लिए केवल व्याकुल रहता है। हिरन जानती है कि 'हर चोट सुंदर पर लगती है'—इसीलिए वह चोट पर चोट खाकर भी आत्महंता स्थितियों से दूर रहती है और सुबंधु विकल्प की स्थिति में भी 'आत्महंता' होने की नियति का शिकार होता है। और यह अनायास ही नहीं, कि लेखक की टिप्पणी···जीवन की यह यात्रा बहुत बड़ी है : उससे भी बड़ी और गहन यात्रा है इस मन और प्राण की। जो भी इस यात्रा के इर्द-गिर्द भ्रमों को तोड़कर, यात्रा के उस पूरे परिवेश में देखता है उसके लिए यह जीवन रहस्य न रहकर आनंदमयी अनुभूति बन जाता है। विविध तर्कों और दर्द में डूबा हुआ यह मन, समाज, इतिहास, धर्म के उस रेगिस्तान में प्यासा घूमता है, जहां जीवन सरिता का प्रभाव रुक जाता है।—हिरन तथा पतितराम के संदर्भ में प्रश्न का ठीक विपरीत अर्थ व्यंजित करती है, और सुबंधु तथा सुगन के प्रसंग में दूसरे अर्थ को व्यक्त करती है। उपन्यास के संपूर्ण भावात्मक और वैचारिक तनाव के बीच सुगन और सुबंधु जिस अंत को पहुंचते हैं, वह जीवन के प्रति इतिहास दृष्टि के अभाव का परिणाम है। लेकिन उपन्यास में केवल यही पक्ष नहीं है। उसमें पतितराम और जैजैवंती तथा रमोली का भी एक पक्ष है। मैं समझता हूं कि लेखक की अभिप्रेत दृष्टि हिरनमयी के साथ तो गुंथी है ही, किंतु उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति पतितराम के चरित्र में हुई है। हिरनमयी का—संपूर्ण मानसिक ऊहापोह के बावजूद—यह कहना कि "तुम ऐसा क्यों नहीं सोचते सुबंधु, कि जो नहीं मिला, वही उपलब्धि है, और जो मिला है, वही दायित्व है हमारा।" उसका जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण स्थापित करता है। यह तो ठीक है कि एक

अभाव जीवन के संपूर्ण भाव पर प्रश्न लगा देता है किंतु जीवन की पूर्णता इतनी सीमित नहीं है कि एक पक्ष की अभावात्मक सत्ता उसे बिल्कुल व्यर्थ, निरर्थक बना दे। सुबंधु संभवतः इसी रूप में सोचता है, अतः वह हिरन को पूर्ण रूप से न पाने के कारण भयंकर मानसिक यातना और शारीरिक रोग का शिकार होता है। डा० लाल ने बिना औपन्यासिक टिप्पणी के सुबंधु के पक्ष की आलोचना की है। अपनी संपूर्ण लेखकीय सहानुभूति के होते हुए भी वे सुबंधु के दर्शन के पक्ष में अधिक आश्वस्त नहीं हो पाए। अपने मुख्य पात्र के प्रति ऐसी वैचारिक दृष्टि की एक ही अभिव्यक्ति बहुत कम उपन्यासों में मिलती है।'''जैसाकि मैंने पहले कहा, पतितराम लेखकीय अभिप्राय की सशक्त अभिव्यक्ति करता है। वह न केवल जातिवाद के विरुद्ध तर्क देता है अपितु जीवन में देने और पाने के दर्शन के प्रति भी उसकी दृष्टि स्पष्ट है। वह अत्यंत सधे शब्दों में कहता है—"मैं मानता हूं, तुमने कभी किसी को कुछ दिया होगा, और जब तुम्हें तुम्हारी समझ के मुताबिक नहीं मिला, तो सर्प की तरह तब से तुम्हारा अहंकार पनप रहा है।"—पतितराम के ये उग्र शब्द लेखकीय अभिप्राय को बखूबी व्यक्त करते हैं। जीवन को केवल अपनी शर्तों पर पाना, जीना और असफल होने पर टूटना, बिखर जाना'''निश्चित ही जीवन को उसके सही अर्थों में न पहचानने के कारण होता है। पतितराम के कहे कुछ शब्द सुबंधु को अपने चिंतन के बीच भी याद आते रहते हैं''' उसकी बात उसे मथती है—"कौन-सी बड़ी करनी है तुम्हारी'''जो लेकर अपना ही दुखड़ा बैठे रो रहे हो। रोगी, अभिमानी, तुझे पता नहीं, तुझसे बाहर इस दुनिया में कितना-कितना कष्ट'''कितना दुःख, कितनी यातनाएं हैं।" इस उद्धरण की भाषिक संरचना, भावात्मक आवेश सब कुछ मिलकर सुबंधु की सोच के विरुद्ध तर्क को स्थापना करता है। और लेखक इस स्थापना में पूरी हिस्सेदारी रखता है।

यहां, यह स्पष्ट होता है कि इस प्रेमकथा के त्रिकोण में सुबंधु के साथ हिरन और सुगन जिस बात को भावना के आधार पर सुबंधु के समक्ष प्रस्तुत करती है'''उसे ज्ञान और अनुभव की दीप्ति देता है पतितराम। जैसे लेखक ने पतितराम की सृष्टि सुबंधु की काट के लिए की हो। मुझे यह कहने में बिल्कुल संकोच नहीं कि'''प्रेमदर्शन के सुबंधु वाले पक्ष के सामने पतितराम का पक्ष अधिक व्यावहारिक, दायित्वपूर्ण और जीवंत है। इसका कारण भी स्पष्ट है कि वह साधुत्व से सांसारिकता की ओर आया है। उसने किसी एक को पाने के लिए संसार छोड़ देने की अहम्मन्यता की दुर्दशा शायद बहुत गहरे में भोगी है। उसका निष्कर्ष जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार करने का है और वह देने ही को, निरंतर देते रहने को ही जीवन की प्राप्ति मानता है। इसी-लिए वह बिना किसी प्राप्ति के लिए प्राप्ति का सुख अनुभव करता है। उसके लिए सारे भ्रम टूट जाते हैं और वह जीवन को रहस्य न मानकर एक आनंदमयी अनुभूति मानता है। जबकि जीवन को संपूर्ण सुख, दुख, राग, द्वेष सहित न लेने की क्षमता के कारण सुबंधु कष्टकारक स्थितियों में जीता है।

'मन वृंदावन' का कथात्मक आयाम सीमित है। क्योंकि यह उपन्यास प्रेमकथा

के रूप में लिखा गया है, अतः संपूर्ण औपन्यासिक तनाव, द्वंद्व अंतर्मुखी हैं। इन अंतर्मुख द्वंद्वों के कारणस्वरूप कोई भी बाहरी घटना विशेष रूप से नहीं होती। उपन्यास में ऐसा संकेत नहीं है कि पूरी तरह से प्यार करने पर भी सुबंधु और हिरन विवाह सूत्र में क्यों नहीं बंध पाते। उनके इस अलगाव में उनकी (विशेषकर) हिरन की मानसिकता ही बाधा बनती है। सुबंधु स्वयं बार-बार इस बात पर विचार करता है कि क्या कारण है, जिससे हिरन कालेज के प्रांगण में उससे आलिंगनबद्ध होकर काफी देर तक खड़ी रह सकती है किंतु उसे केवल मन के स्तर पर भोगती है शरीर के स्तर पर नहीं। इसका कोई भी संतोषजनक उत्तर न हिरन दे पाती है, न सुबंधु अपने आप पा सका है।

कथा का एक पक्ष सुगन और सुबंधु का है जहां वह पातिव्रत्य की एकनिष्ठता के परे सुबंधु को प्यार करती है, जीवन की सार्थकता पाती है किंतु विश्वासघात के कारण आत्महत्या कर लेती है। इसके साथ पतितराम जैजैवंती और रमोली की पात्रता है। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि सबके बीच स्थितियों का क्रम स्मृति के माध्यम से आता है। यात्रा के एक बिंदु से पुराना जीवन खुलता जाता है। पर भविष्य की रेखाएं धूमिल होती जाती हैं। इन सारी कथात्मक स्थितियों से लेखक घटनाओं संगुंफन इस रूप में करता है कि कथा की वर्णनात्मकता कम रहती है और 'प्रेम' पर चिंतनपरक दृष्टिकोण अधिक उभरता है। यही कारण है कि प्रस्तुत उपन्यास चेतना के स्तर पर प्रेमपरक 'वैकल्य बोध' की प्रतीति कराता है। और संपूर्ण दर्शन इसी वैफल्य बोध पर टिका हुआ है। कहीं-कहीं पर उपन्यासकार व्यक्तिगत वैफल्य बोध को समष्टि से भी जोड़ देता है, पर वह प्रसंगवशात ही हुआ है, रचना की मूल संवेदना के रूप में नहीं उभर पाया।

इन तमाम चिंतन प्रक्रियाओं के बीच एक बुद्धिवादी पात्र भी है, हिरन के पति सुश्रांपु लेकिन उनकी सोच को उपन्यास में अपेक्षित स्थान नहीं मिल पाया, शायद वह लेखक का मूल अभिप्राय नहीं था। और यहीं फिर एक प्रश्न उभरता है, परंपरागत नैतिकता और आत्मनिष्ठ नैतिक मान्यताओं का। और लेखक चाहे जितना भी आत्मनिष्ठ नैतिकता की पुष्टि करना चाहता हो उसका मत परंपरित नैतिकता के पक्ष में जाता है। सुगन और सुबंधु के अंतिम परिणाम इसी तथ्य के द्योतक हैं। यही नहीं, जैजैवंती का पतितराम के प्रति संपूर्ण आचरण और अंत में पतितराम का सब कुछ उसके बच्चे के पास छोड़कर चल देना भी किसी नई क्रांतिकारी आत्मनिष्ठ नैतिकता की स्थापना न करके हलके से रमोली के पीछे-पीछे चले आने में, उसका आभास मात्र कराता है।

'मन वृंदावन' की रचना में अपने सीमित कथ्य में भाषिक संरचना के अन्यतम उदाहरण मिल जाते हैं। भावनात्मक उद्वेग में कहे गए दार्शनिक वाक्य, उद्वेग को न संभाल पाने के कारण अस्फुट शब्द और नपी-तुली सूत्रात्मक अभिव्यक्ति अनेक अन्य सपाट प्रेम कथात्मक उपन्यासों से अलग 'मन वृंदावन' को विशिष्टता प्रदान करती है।"—कोई

एक है जिसकी सुधि होते ही हिरनमयी में शतशत बांसुरी बज उठती है। लेकिन उसके मन का अर्जुन'''वही सुबंधु उदास होकर अपने जीवन का गांडीव उतार फेंकता है। उसे कौन-सी गीता बताई जाए ? और वह कृष्ण कहां से आए ? नई गीता सुनने वाला। इस अर्जुन के पास तो कोई प्रश्न भी नहीं है। कोई युद्ध भी नहीं। वह बस अपना गांडीव फेंककर मस्त पड़ा है।"—लगभग सारा उपन्यास इस प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया है। सारा इसलिए कि अधिकांश स्थलों पर यह प्रतीकात्मकता आश्चर्य-जनक प्रभाव डालती है और पाठक हर क्षण के बाद उसका आस्वादन करता चलता है। क्योंकि संपूर्ण उपन्यास का कथात्मक विकास संवाद शैली में है—जो वर्तमान में ठीक पाठक के सामने गुजरता है'''और अतीत में मन के संवादों के माध्यम से स्पष्ट होता है, अतः परस्पर भावों को पुष्ट करनेवाले, काटने वाले सूत्रात्मक वाक्यों में भाषागत चमत्कार नितांत स्वाभाविक स्तर पर उभरता है।

जो लोग उपन्यास और उपन्यासकार के सामाजिक दायित्व के आधार पर ही रचना धर्म को तोलते हैं उन्हें 'मन वृंदावन' कोरा प्रेमपरक उपन्यास लगेगा लेकिन जिनके लिए आत्मपरिचय, आत्मज्ञान आत्मोपलब्धि की महत्ता है, वे इससे निश्चित रूप में, इस कारण संतुष्ट होंगे कि इस उपन्यास में कथा वहीं की कही गई है जहां इतिहास, समाज, धर्म कुछ नहीं कर पाते, वहां व्यक्ति की अभावात्मक स्थितियां इन सब सत्यों से परे किसी अपने भीतर के सत्य का साक्षात्कार करती उसे किसी महत्तर आंतरिक मूल्य से जोड़ती हैं। वस्तुतः किसी भी वृत्ति की उपलब्धि अपने मंतव्य के भीतर ही होती है। हां, उसके मंतव्य के प्रस्तुतीकरण में जहां दरारें रह जाती हैं वहां कलात्मक संयोजन ही नहीं बिखरता, औपन्यासिक मंतव्य भी स्पष्ट नहीं होता। लेकिन 'मन वृंदावन' में लेखकीय मंतव्य बिल्कुल स्पष्ट है और उसके लिए चुना गया संरचनात्मक विधान केवल उसी मंतव्य की व्याख्या, पुष्टि करता है। उपन्यास में जो नहीं है, उसकी अपेक्षा के आधार पर की गई टिप्पणी से अनेक कमियां नजर आ सकती हैं किंतु वह स्थिति श्रेयस्कर नहीं हो सकती। अतः 'मन वृंदावन' की रचनात्मक उपलब्धि उसके अभिप्राय में है और यदि सार रूप से उसका आकलन किया जाए तो कहना होगा कि—व्यक्ति का मन उसके संपूर्ण कार्य व्यापार का संचालक ही नहीं भोक्ता भी है। यह मन ही है जो संसार के सुख-दुख को अपनी सीमा में ग्रहण करता है, फिर उसे अपने समाज में संप्रेषित भी करता है। इस ग्रहण और संप्रेषण के बीच उसे एक अवसर मिलता है आत्म को पाने का, आत्म को पहचानने का'''और यदि वह आत्म को पा लेता है तो पतितराम की तरह जीवन की वास्तविकता का साक्षात्कार करता है, यदि नहीं पाता तो सुबंधु की तरह भटकता रहता है। एक स्थिति मध्य मार्ग की भी होती है कि 'आत्म', 'पर' से अधिक भिन्न नहीं होता और जब भी 'आत्म' को 'पर' से संयोजित किया जाता है तो हिरनमयी की तरह सारे सुख, सारी यातनाएं भोगने के लिए प्रस्तुत हुआ जाता है। शायद लेखक इस संयोजन की ही बात पूरे औपन्यासिक तनाव की उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत करता है। और, कहना न होगा कि डा० लाल अपने अभिप्रेत को व्यक्त करने में एक कलात्मक, रचनात्मक उपलब्धि के धरातल पर 'मन वृंदावन' में अवस्थित हो पाने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं।

प्रेम अपवित्र नदी

डा० नीलिमा सिंह

डा० लक्ष्मीनारायण लाल का उपन्यास 'प्रेम अपवित्र नदी' जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है प्रणय-दर्शन की पृष्ठभूमि पर लिखा गया एक गंभीर उपन्यास है। प्रेम हृदय की एक दिव्य अनुभूति है, किंतु सामाजिक परंपराएं और धार्मिक आस्थाएं उस पर पवित्रता और अपवित्रता के असंख्य आवरण चढ़ाकर उसके सहज और निर्मल रूप को विकृत कर देती हैं।

भूमि परत भा डाबर पानी
जनु माया जोवहि लपटानी

का सिद्धांत प्रेम के संदर्भ में भी उतना ही सत्य है। हमारी सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि मनुष्य अपनी इच्छा से जाति, धर्म, आस्था और यहां तक कि प्रेम का वरण करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं समझा जाता है। प्रेम का पारावार जब हृदय में उमड़ता है तब मर्यादा के समस्त सीमांत उसमें तिरोहित हो जाते हैं। इस अलौकिक भावभूमि में पहुंचने के पश्चात मनुष्य का अहं भाव स्वतः नष्ट हो जाता है। कुछ भी पाने की इच्छा शेष नहीं रह जाती है। देने और देते-देते रीत जाने में ही प्रेम की सार्थकता दिखाई देने लगती है।

इस उपन्यास का कथाफलक अत्यंत विस्तीर्ण है। तीन पीढ़ियों के जीवन-क्रम में कितने ही सामाजिक मूल्य और सांस्कृतिक मापदंड परिवर्तित हो जाते हैं। भ्रांत आस्थाओं और जर्जर परंपराओं के अवरोधों को प्रेम की उच्छल सरिता सदा से अपने अबाध प्रवाह में बहाती चली जा रही है, किंतु न अवरोध समाप्त होते हैं और न सरिता की गति रुकती है। इस सबके बीच यह प्रश्न एक अभेद्य चट्टान की तरह सदियों से अपने स्थान पर अविचल भाव से खड़ा हुआ है—प्रेम में क्या पवित्र है और क्या अपवित्र ?

नील कटरे के धनाढ्य सेठ सूरज कपूर अपनी कुल-परंपरा के अनुसार एक दिन धूम-धाम से अपनी पत्नी ब्रजरानी को हरिद्वार के महावीर पंडे को दान दे बैठते हैं। महावीर पंडा ब्रजरानी के रूप का तीव्र आलोक देखकर ठगा-सा रह जाता है। वह दान का मूल्य लेकर ब्रजरानी को लौटाना अस्वीकार कर देता है। ब्रजरानी अवसन्न रह जाती है। पति में उसके प्रेम के लिए धर्म का निषेध करने का साहस नहीं है। पंडा

केवल उसके प्रेम के लिए ध
वह ब्रजरानी के लिए समाज
अट्टालिका का निर्माण कर
कर पाती है। वह न अपने

ब्रजरानी प्रेम का अ
डाकू सरदार जिसमें पौरुष है
विधवा भाभी पुलिस वालों
विवाहित है, बाल-बच्चेदार है
की पीड़ा में छिपी हुई शक्ति
शंकाओं का समाधान है।

"पर क्या यह पाप न
"कैसा पाप ?"
"अपवित्र प्रेम !"
"नहीं। पाप-पुण्य, प
जहां शक्ति है वहां कोई पाप
"मेरी शक्ति क्या है ?
"तुम्हारा दुख-दुर्भाग्य

ब्रजरानी का पुत्र विष्
था जब उसकी मां पंडे को दान
आदर्शों, धनलोलुपता और राज
को वह कभी भूल नहीं पाता है
के लिए उसके साथ जाकर रहत
की गई समस्त संपत्ति पंचानन
एक छप्पर तले निवास कर रही
का मर्म समझ नहीं पाता है।
यातना, पश्चात्ताप को तुम जीना
रोमांटिक ईडियट।"

यह बीसवीं शताब्दी के
ब्रजरानी के विद्रोह का स्तर उस
गुस्से से मत लड़ो, प्यार से लड़ो
आई।"

ब्रजरानी अपने संस्कारों
स्वतंत्र नहीं थी, अतः मुक्ति की
धरातल पर आरंभ से ही मुक्त है
संघर्ष करना पड़ता है।

केवल उसके प्रेम के लिए धार्मिक परंपराओं से विद्रोह करके उसे पाना चाहता है। वह ब्रजरानी के लिए समाज से नाता तोड़कर वैभव-विलास से अलंकृत एक विशाल अट्टालिका का निर्माण करता है। ब्रजरानी उसे कभी भी अपना हृदय नहीं समर्पित कर पाती है। वह न अपने पति को क्षमा करती है और न पंडे को।

ब्रजरानी प्रेम का अपूर्व अनुभव डाकू सरदार के अंक में कर पाती है। वह डाकू सरदार जिसमें पौरुष है, स्वाभिमान है। जो इसलिए डाकू बना क्योंकि उसकी विधवा भाभी पुलिस वालों के हाथों कलंकित होकर जल मरी थी। डाकू सरदार विवाहित है, बाल-बच्चेदार है, अपनी पत्नी फुलगेंदा को प्यार करता है, किंतु ब्रजरानी की पीड़ा में छिपी हुई शक्ति का सम्मान भी करता है। उसके पास ब्रजरानी की सभी शंकाओं का समाधान है।

"पर क्या यह पाप नहीं है ?"

"कैसा पाप ?"

"अपवित्र प्रेम !"

"नहीं। पाप-पुण्य, पवित्र-अपवित्र, धर्म-अधर्म कमजोर शक्तिहीन के लिए है। जहां शक्ति है वहां कोई पाप अधर्म नहीं है।"

"मेरी शक्ति क्या है ?" ब्रजरानी ने पूछा।

"तुम्हारा दुख-दुर्भाग्य। नहीं नहीं, सिर्फ तुम···तुम···।"

ब्रजरानी का पुत्र विष्णु पद इस कथा की दूसरी कड़ी है। वह सात वर्ष का था जब उसकी मां पंडे को दान में दे दी गई थी। वह आरंभ से ही पितृ-कुल के खोखले आदर्शों, धनलोलुपता और राजभक्ति से घृणा करने लगता है। अपनी परित्यक्ता मां को वह कभी भूल नहीं पाता है। ब्रजरानी के जीवन के अंतिम दिनों में वह कुछ समय के लिए उसके साथ जाकर रहता है। ब्रजरानी महावीर पंडे के द्वारा अपने नाम वसीयत की गई समस्त संपत्ति पंचानन चोर तथा डाकू सरदार के परिवार को सौंपकर अकेली एक छप्पर तले निवास कर रही होती है। विष्णु पद मां के इस त्याग और आत्मपीड़न का मर्म समझ नहीं पाता है। आवेश में आकर एक दिन कह बैठता है—"दुख, दर्द, यातना, पश्चाताप को तुम जीना चाहती हो···इसे तुम आदर्श समझती हो, बेवकूफ रोमांटिक ईडियट।"

यह बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के जीवन मूल्यों का परिवर्तित रूप है। ब्रजरानी के विद्रोह का स्तर उससे भिन्न है। वह ठहाका मारकर हंस पड़ती है—"बेटे, गुस्से से मत लड़ो, प्यार से लड़ो।···जो मैं नहीं कर सकी। यह बात आज अंत में समझ आई।"

ब्रजरानी अपने संस्कारों से, अपने अतीत से, अपने चारों ओर के परिवेश से स्वतंत्र नहीं थी, अतः मुक्ति की तलाश में जीवन से संन्यास ले लेती है। विष्णुपद इस धरातल पर आरंभ से ही मुक्त है, किंतु उसे भी प्रेम की अन्य मर्यादाओं से कठोर संघर्ष करना पड़ता है।

वह अपने परिवार से, उसके वैभव और सम्मान से नाता तोड़कर जैक्सन साहब के गैराज से एक पत्र निकालने लगता है—नवभारत। इसके माध्यम से वह विदेशी शासकों के अन्याय तथा स्वदेशी राजभक्तों की गद्दारी का पर्दाफाश करता रहता है। यहीं उसे मिलती है शिवानी, उसके ताऊ जी के पुत्र कुंवर की पत्नी। कुंवर ने पारिवारिक कारोबार को नया मोड़ दिया है—कांट्रेक्ट और कांटैक्ट के बिजनेस का। वह कनाट प्लेस के भवनों के निर्माण का लाखों रुपए का ठेका पा जाता है।

शिवानी एक जज की बेटी है। कान्वेंट की पढ़ी हुई, उन्मुक्त वातावरण में पली, एक अत्यंत भावुक युवती। कपूरवंश के व्यापारिक परिवेश में वह स्वयं को अनुकूलित नहीं कर पाती है। एक सुखी परिवार के आदर्श रूप का जो स्वप्न उसने देखा था उसे पति की व्यस्तता और व्यावसायिकता चूर-चूर कर देती है। कुंवर के लिए वह एक इंसान नहीं है, केवल उपयोगिता और सज्जा की वस्तु मात्र है। रात में जब भी उसे पत्नी की आवश्यकता होती है वह अपने कमरे से एक स्विच दबाता है। शिवानी के कमरे में एक तेज आवाज होती है और उसे पति के पलंग पर आना पड़ता है। इस विषमय वातावरण में ही उसका पुत्र विजय जन्म लेता है। पुत्र के कारण शिवानी पति से बंधी रहती है और घरेलू जीवन के निर्वाह का अभिनय करती रहती है।

वह सोचने पर विवश हो जाती है कि "महावीर पंडे और कुंवर में क्या अंतर है? मुख्य है व्यवस्था, वही असलियत है और इंसान बेकारण भावुक होकर मर मिटता है, व्यक्तिगत संबंधों की सूली पर।"

उधर विष्णुपद है जो उसे मानवी समझता है और उसकी भावनाओं का सम्मान करता है। वह उसे 'बर्निंग स्प्रिंग' मानता है, "जो ऊपर से अदृश्य हो सकती है पर भीतर से कभी नहीं सूखती···।" उसे शिवानी को देखकर लगता है कि वही उसकी मां है—पंडे के हाथ निर्वासित—दान दे दी हुई वही ब्रजरानी मां।

शिवानी और विष्णुपद के बीच प्रेम का अत्यंत मधुर और कोमल संबंध पनपने लगता है। एक दिन वर्षा में भीगते हुए दोनों एक दूसरे को समर्पित हो जाते हैं। शिवानी महसूस करती है कि विष्णुपद ही वह पुरुष पति है जिसकी कल्पना उसने की थी।

शिवानी समस्त सामाजिक अवरोधों को ठुकराकर तलाक ले लेती है। उसका पुत्र विजय उसे उलाहना देता है—"तलाक देते समय उसने एक बार भी नहीं कहा कि मुझे मेरा पुत्र चाहिए···।"

शिवानी की आंखें भर आती हैं। वह उससे कहती है—"तू ही बता, मैंने तुझे क्यों नहीं मांगा? क्या कभी तूने मुझे यह अनुभव होने दिया कि तू मेरा है? हर वक्त अपने पिता के कहने में था···मुझे पागल कहा था न, याद है?"

पुत्र की अवहेलना ने ही शिवानी को उस अंतिम बंधन से मुक्त किया था जिसके सहारे वह कुंवर के साथ अपमानपूर्वक जीने का समझौता कर सकती थी। उसे महसूस

होता है कि पत्नीत्व के धर्म से मुक्त होकर वह उस सबसे जुड़ गई है जो अनंत है··· व्यापक है।

विजय की कथा तीसरी पीढ़ी के मुक्ति संघर्ष की कथा है। उसे आरंभ से ही अंग्रेजी शिक्षा मिली थी। वह नहीं जानता था कि राम दशरथ के पुत्र थे या कृष्ण के। वह धर्म, कुल परंपरा और भावुकता सभी से मुक्त है। उसे अपनी मां से घृणा करना सिखाया गया था। तलाक के पश्चात ही वह अपनी मां की वास्तविकता से परिचित हो पाता है।

उसके पिता गोल्फलिंक में उसके लिए नई कोठी बनवा देते हैं। अठारह वर्ष की आयु में ही वह बहुत बड़ा व्यापारी बन जाता है।

शिवानी का विष्णुपद से विवाह हो जाता है। विजय स्वयं अपनी मां को बधाई देने जाता है। विजय नई पीढ़ी का है। उसका दृष्टिकोण उन्मुक्त है। उसे किसी से भी डर नहीं लगता है, न पिता से, न धर्म से और न समाज से। वह हर बात को अपने ही तरीके से सोचता है; इसलिए उसके विचार किसी से मेल नहीं खाते हैं। वह पिता से घृणा करने लगता है। धीरे-धीरे वह समझ जाता है कि उसकी मां ने इस व्यक्ति के साथ रहकर कितनी मानसिक यातनाएं झेली होंगी। समाज में अकेला रह जाने के कारण वह शराब पी-पीकर बेहोश रहने लगता है।

उधर कपूर हवेली में उसके दादा जी की जीवन वृद्धि के लिए 'पिहानी वाली' किसी तांत्रिक साधना में लग जाती हैं। तीन-चार दिनों में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। कपूर हवेली पतिव्रता की जय-जयकार से गूंज उठती है। शिवानी दूसरे दिन अखबार में छापती है—"धर्म से बड़ा हत्यारा और कुछ नहीं है···स्त्री का सबसे भयानक शोषण इसी धर्म के नाम से होता है।"

जापान यात्रा से लौटते हुए विजय की भेंट एक आइरिश युवती लिलियन से होती है। वह पर्यटन की शौकीन है, बड़ी साहसी है, संस्कृत साहित्य में रुचि रखती है और सिगरेट के स्थान पर बीड़ी पीती है। विजय उससे प्रेम करने लगता है और विवाह का प्रस्ताव रखता है। लिलियन हंस पड़ती है।

"शादी के लिए प्रेम ही जरूरी नहीं है, इसके लिए एक लंबी तैयारी की जरूरत है।"

वह विजय से स्पष्ट कह देती है—"तुम्हारे पास अपना क्या है—नथिंग" और उसे ठुकराकर चली जाती है। विजय हिप्पी बनकर महीनों इधर-उधर भटकता रहता है—अपने आपको तलाशता रहता है। दिल्ली में दंगे होने लगते हैं। तमाम बस्तियों में आग लग जाती है। विजय उसी फटेहाल रूप में पीड़ितों की सहायता करने जा पहुंचता है। उसे लगता है कि उसने अपने आपको पा लिया है। वहीं अकस्मात लिलियन भी पहुंच जाती है। दोनों एक दूसरे की सार्थकता को, एक दूसरे के यथार्थ को पहचान जाते हैं। दोनों विवाह की परंपरा से मुक्त एक सहज प्रेम के रिश्ते को स्वीकार करके साथ रहने का फैसला कर लेते हैं।

विष्णुपद सोचता है कि इस मुल्क में कभी क्रांति नहीं आ सकती क्योंकि—"यहां का मनुष्य अपने आप से, आस-पास के लोगों से, घटनाओं और कर्मों से पूरी तरह उदास और टूटा हुआ है। इसकी बुनियाद है हमारे घर, हमारी शादियां, हमारे संबंध···इसी के भयानक शून्य से हमारी गंदी राजनीति, हमारा अंधा धर्म, हमारी बंजर अर्थव्यवस्था पैदा हुई है···।"

यही है इस उपन्यास का मूल कथ्य। मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसमें चेतना है, भावुकता है, वह प्रेम कर सकता है। किंतु इस भावना का चरम तत्त्व क्या है यह स्वयं मनुष्य ही नहीं जानता।

डा० लाल का यह प्रणय-दर्शन भारतीय कथा-साहित्य में वर्णित प्रेम की प्रचलित परिपाटी से बहुत हटकर अभिव्यक्त हुआ है। प्रेम कथाओं के प्राय: दो ही सूत्र होते हैं—मिलन-संघर्ष-विवाह, तथा मिलन-संघर्ष-विद्रोह। डा० लाल ने अपने साहित्य में संयोग और वियोग की सभी शास्त्रीय स्थितियों को नकार कर एक स्वस्थ तथा स्वच्छंद दृष्टिकोण स्थापित किया है। समाज और गार्हस्थ्य के प्रतिमान प्रेम की विशुद्धता को विकृत अवश्य कर देते हैं। इसीलिए इनके पात्र जब प्रेम करते हैं तब स्वयं को जाति, धर्म, परिवार या व्यवसाय के दायरों से मुक्त रखते हैं। इनके उपन्यास 'मन वृंदावन' में सुबंधु से प्रेम करने वाली दोनों स्त्रियां हिरनमयी और सुगन विवाहिता हैं। पतितराम कुम्हार है और जैजैवंती विधवा ब्राह्मणी। यह प्रेम का सहज, पवित्र और निर्मल रूप है जिसमें किसी अन्य संबंध की मिलावट नहीं है। 'मन वृंदावन' में इनकी सुगन कहती है—"हां, राधा ब्याहता थी। ब्याहता होकर कृष्ण ने प्यार किया था। प्यार क्या एक ही होता है। बहुत तरह का प्यार होता है—हो सकता है। प्यार बंटा हुआ भी हो सकता है। छल में भी प्यार होता है। कभी-कभी कुलटा का प्यार सौ-सौ सुहागिनों से भी बढ़कर होता है। हर प्यार एक अलग मन्वंतर है, जीवन है, वह चाहे जिस रूप में पैदा हुआ है। चाहे जिससे हो, चाहे जिसके लिए भी हो। और वह सब पुण्य है···शिव है वही।"

इनके नाटक 'सूर्यमुख' में कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न उनकी पत्नी वेनुरती के प्रेम के लिए समस्त संस्कारों तथा आदर्शों को चुनौती दे देता है। उसके संबंध में इन्होंने लिखा है—'वह नया है। सूर्यमुख है वह। उसने इस अंधकार में प्रेम का एक नया मन्वंतर स्थापित किया है।"

वर्जित प्रेम को पा लेने का यही विद्रोही रूप बजरंगी तथा डाकू सरदार के और शिवानी तथा विष्णुपद के प्रणय संबंधों में व्यक्त हुआ है। विजय और लिलियन सभी वर्जनाओं से मुक्त हैं। शायद उन्होंने प्रेम को उसके विशुद्ध रूप में पा लिया है। उनके प्रेम में न पवित्रता की मांग है और न अपवित्रता की आशंका। पता नहीं यह भी प्रेम का आदर्श रूप है या नहीं। प्रश्न अभी तक वहीं का वहीं है—प्रेम और मर्यादा का संतुलन-स्तर क्या कोई है? यदि है तो वह कहां है?

प्रिय डा० लाल,

'हरा समुंदर गो
वह उतनी ही प्यारी भी
पाठक की हैसियत से मु
झकझोरने का सवाल ह
निकट क्या मूल्य हो सक

तुम्हारे इस उप
बेशकीमती मालूम हुई।
वह असंगत भी समझ ल
एक चीज के बिना व्यर्थ
जाग में भी हमारा साथ
धुन का काम दे। तुमने
समीक्षक के निकट उपह
हूं कि अनायास तुमसे य

हरा समुंदर
गोपी चंदर

जैनेन्द्र कुमार

प्रिय डा० लाल,

'हरा समुंदर गोपी चंदर' अभी पढ़कर पूरी की है। उसमें बड़ी बहक है, पर वह उतनी ही प्यारी भी है। इधर धीर गंभीर यथार्थ और उसके गहन विश्लेषण ने पाठक की हैसियत से मुझे उबा दिया है। वे रचनाएं मेरे भीतर को छूती ही नहीं। झकझोरने का सवाल ही कहां! उस यथार्थ ज्ञान-विज्ञान का प्राणों की भाषा में मेरे निकट क्या मूल्य हो सकता है।

तुम्हारे इस उपन्यास में जिस धुन और लगन की झलक मिली है, वह मुझे बेशकीमती मालूम हुई। वह चीज कम दीखती है और शायद हो कि साहित्य के लिए वह अनिवार्य भी समझ ली जाती हो। पर मुझे लगता है कि सारा साहित्य शिल्प उस एक चीज के बिना व्यर्थ, दंभ और आडंबर है। सपना तो कुछ होना ही चाहिए जो जाग में भी हमारा साथ न छोड़े। बल्कि जीने को स्वप्न में प्रगट हुआ वह नक्षत्र एक धुन का काम दे। तुमने यह उपन्यास लिखकर अपने को एक तरह पेशेवर साहित्य समीक्षक के निकट उपहास्य बना लिया, लेकिन मैं अपनी ओर से हार्दिक बधाई देता हूं कि अनायास तुमसे यह साहस हो सका है।

घर में सबको यथायोग्य,

सस्नेह तुम्हारा,

जैनेन्द्र कुमार
7/36 दरियागंज
दिल्ली-110006
15-5-75

कहानीकार लाल

[सरजू तट का पपीहा और चांद की फांकें]

गौतम सचदेव

अवध प्रदेश की माटी की गंध, उसके खेत-खलिहान, उसकी सरजू-कुआनो-मनोरमा नदियों के किनारों की शस्यश्यामलता और उनमें मुखरित होती हुई पपीहे, कौंच, बगुलों, चिड़ियों, मुआंचिरई, टुकटुइयां तथा कौवे आदि पक्षियों की चहचहाहट में जिस रचना-संसार का रूपरंग बनता और अनुगूंजता है वह लक्ष्मीनारायण लाल की कहानियों का ही हो सकता है। 'पंचपेड़वा' के रूप में पांच कहानी-संग्रहों की पंचवटी बसाकर वे नई कहानी के शहरी परिवेश में अपनी ग्रामीण भावना, संस्कार, निश्चित ताज़गी और तरल संपृक्ति की कुटिया बनाए हुए अपनी असामान्य 'आइडेंटिटी' लिए बैठे हैं। एक रहस्यात्मक चांदनी पत्तियों से छन-छनकर धरती को जब घनिष्ठ संवेद से चित्रित करती है तब चांद की कोई उज्ज्वल या श्यामल एक फांक काटकर वे कहानी के रूप में रख देते हैं।

कहानीकार लाल सर्जक लक्ष्मीनारायण लाल का सबसे पहला उन्मेष है। उनकी प्रतिभा जब कैशोर्य में आंखें खोलती है तब इलाचंद्र जोशी द्वारा संपादित 'संगम' में उसकी पहली उड़ान दिखाई पड़ती है। 1949 से लेकर अगले दस वर्षों तक वे 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'नवभारत', 'राष्ट्रवाणी,' 'माया', 'सुप्रभात', 'उत्तरा,' 'ज्ञानोदय', 'कल्पना', 'निकष' और 'कहानी' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लिखते हुए 1960 में अपना पहला कहानी-संग्रह प्रकाशित करवाते हैं—'सूने अंगन रस बरसै' के नाम से, वैसी ही कहानियों को लेकर— यथा नाम तथा गुण। उनका दूसरा कहानी संग्रह 'नए स्वर : नई रेखाएं' जुलाई 1962 में प्रकाशित होता है जिसमें पहले जैसे 'रस' के स्थान पर 'मधुबन की मुरलिया' की ध्वनि और 'गौरा पार्वती' या 'सुंदरी' की रेखाएं अधिक स्पष्ट हैं। आगे 1964 में दो संग्रह—'एक बूंद जल' एवं 'एक और कहानी' करुण-व्यंग्य के प्रतीक लिए हुए प्रकाशित होते हैं। 1973 में प्रकाशित उनका पांचवां संग्रह 'डाकू आए थे' क्रम की अगली कड़ी जरूर है लेकिन उनकी कहानीकला का नया मोड़ कदापि नहीं। दूसरे संग्रह से लेकर आगे वे एक-सी गति-स्थिति तथा स्पंदन और संवेदना को बनाए रखते हैं। वे आज भी लिख रहे हैं और बीसवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कहानी के क्षेत्र में किसी न किसी रूप में अवश्य उपस्थित हैं। उपर्युक्त पांचों संग्रहों में उनकी इक्यावन मौलिक कहानियां हैं, जिनका बहुलांश अवध के अंचल विशेष से संबंधित है।

लक्ष्मीनारायण लाल के पांच कथा संग्रहों—

(1) 'सूने आंगन रस बरसै' (2) 'नए स्वर नई रेखाएं' (3)'एक बूंद जल' (4) 'डाकू आए थे' (5) 'एक और कहानी'—में संगृहीत इक्यावन कहानियों के अतिरिक्त कहानियां और भी अनेक होंगी जैसाकि स्वयं डा० लाल ने अपने प्रथम कहानी-संग्रह की भूमिका में लिखा है या बाद में भी 'नई कहानियां' के दिसम्बर, 1965 के अंक में एक कहानी 'डरा हुआ मुख' मिलती है।

परंपरागत ढंग से इन कहानियों को अनेक वर्गों में रखा जा सकता है, लेकिन परंपरा से हटने पर भी बहुत-सी कहानियों को पुराने वर्गों में ही रखना विवशता भी है। वास्तव में डा० लाल के कहानी साहित्य में कथ्य और शिल्प की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनसे पूरी कहानियों को एक साथ पढ़ने वाले पाठक के मन में अनेक निश्चित बिंब बनते हैं। उदाहरण के लिए, अधिकांश कहानियां आंचलिकता या अवध का लोकतत्त्व संजोए हुए हैं। इन अधिकांश कहानियों में नारी-चरित्र का प्रायः रोमानी दृष्टि और सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक विचार से ऐसा चित्रण हुआ है कि उनके भावुक मानबीय, अतृप्त अथवा स्नेहतरल रूप स्मरण रहते हैं। इन कहानियों का एक विशेष आंचलिक परिवेश है जो ग्रामीण वातावरण, रीतिनीति, परंपरा-विश्वास और भावात्मक संपृक्ति लिए हुए है। इस आंचलिक परिवेश की जहां अपनी मुखरता या 'साउंड-इफैक्ट' है वहीं भौतिक जीवंतता या 'ऑर्गेनिक लाइव्लीनेस' भी है—अर्थात् पक्षी, पशु, पेड़, नदियां, कगार, सरोवर, खेत, गीत, ऋतुएं और जीवन-पद्धति आदि हैं। उपर्युक्त आंचलिक परिवेश के धुंधले क्षितिज भी हैं जो रहस्य, स्वप्न अथवा आदर्श कल्पनाओं में खो जाते हैं तथा पीछे उल्कापात जैसी क्षणिक दीप्ति का प्रभाव रखते हैं।

कहानीकार लाल क्या सोचते हैं ?

उनकी कहानियों पर विचार करते हुए यह प्रश्न प्रासंगिक और स्वाभाविक है। प्रासंगिक इसलिए कि उन्होंने हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि पर शोधकार्य ही नहीं किया, अपितु 'नई कहानी आंदोलन' का एक प्रमुख हस्ताक्षर होने के नाते यत्र तत्र वक्तव्य, टिप्पणियां और लेख लिखे हैं। स्वाभाविक इसलिए है कि असावधान या अचेष्ट कलाकार न होकर डा० लाल सजग कथाशिल्पी हैं।

लाल का अध्येता होने के नाते जब मैं उन्हें नई कहानी आंदोलन से जोड़ता हूं और सजग कथाशिल्पी कहता हूं तो बात उलझती है क्योंकि वे स्वयं न तो खुद को आंदोलनकर्त्ता मानते हैं और न ही सचेत कलाकार (कांशस आर्टिस्ट)। बात उनके

कहानीकार के 'मैंटल मेक-अप' (मानसिक व्यक्तित्व) से शुरू की जा सकती है। वह एक कौन-सी कहानी है जिसने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया—इस प्रश्न के उत्तर में उनकी पसंद का कथ्य और शिल्प दोनों निहित हैं। 'नई कहानियां' की ऐसी ही एक योजना के अंतर्गत जून 1963 में 'वह एक कहानी' के नाम से डा० लाल ने आत्मा-लोचन करते हुए अपने भावुक कहानीकार व्यक्तित्व को विचारक शोधकर्ता के व्यक्तित्व से श्रेष्ठतर बताया है। 'संगम' में लिखने की शुरुआत के समय जब उनकी अवस्था बीस-बाईस वर्ष की और 'आकांक्षाएं स्वप्निल थीं' तो जैनेंद्र की कहानी 'राजीव और भाभी' ने उनके "हृदय को बरबस मथ दिया था। × × × कैसी गहरी पकड़ थी उस कहानी की! जैसे प्राणों की भाषा बोलती थी वह। राजीव जैसे मैं ही था। और वह भाभी? जो मेरे किशोर मन के आकाश में अब भी होली के साथ रंग में डूबी हुई उस बंद कमरे के फ़र्श को टकटकी बांधे देख रही हैं।" कहानी के लेखक लाल का यह 'बासंती मिलन' उनकी 'अनुभूतियों की अनुभूति' हो गया है। रिश्तों से परे एक युवक और एक युवती का होली-मिलन और आकांक्षा-ज्वार डा० लाल की कहानियों की स्नेह-तरलता, भावुकता और नारी-व्याप्ति को समझने में सहायक है। अवस्था के साथ उनकी भावुकता किशोर तो आज नहीं रही, पर 'अब तक किशोर मन की अतल गहराइयों में बैठी हुई' जरूर है। यहीं से उनका नारीत्व के प्रति भावुक आकर्षण शुरू होता है जो अतृप्त-प्रीति की करुणा से गुजरता हुआ विषाद और करुण व्यंग्य तक चला आता है। 'राजीव और भाभी' के सम्मोहन के बाद डा० लाल के तरुण हृदय पर प्रसाद की 'आकाशदीप' कहानी की चंपा का और भी अधिक असर-दार जादू होता है—"यह गहन चित्र ऐसा हृदय में अंकित है, जैसे वह कहानी भी हो और एक महाकाव्य भी। एक गीत हो और साथ ही एक उपन्यास भी। जैसे कभी न रुकने वाला मालकोश, एक अबाध तरंगायित विहाग।"

लाल में 'आकाशदीप' की यह प्रतिक्रिया कथ्य के कारण भी हुई है और शिल्प के कारण भी। चंपा का प्यार और घृणा, पूरी तीव्रता के साथ समस्तरीय थे, और चरित्र स्वाभिमानी। इस तनाव और अंतर्द्वंद्व वाले चरित्रशिल्प तथा लेखक की रागात्मक संपृक्ति के बावजूद संयत तटस्थता ने प्रस्तुत कहानी को अमर बना दिया है—डा० लाल ही क्या, कोई भी यह मानेगा, लेकिन लाल साहब इसे अपने भावात्मक स्तर से भावात्मक उपलब्धि मानकर आसंगित हैं।

तरुणाई में तीसरी कहानी की अमिट छाप भी उपर्युक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि करती है—सॉमरसेट मॉम की कहानी 'रेन'—लेकिन अब डा० लाल अधिक वैविध्य लिए हुए हैं। वे बाद में बार-बार उसी कहानी को अलग-अलग समयों में पढ़कर उसके हीरक-कटावों और कोणिक प्रभावों को गहराई से समझते हैं। तब उन्हें पूर्वोक्त दोनों कहानियां भी इसी में एकीकृत हुई लगती हैं। यह कहानी उन्हें 'हांट करती है'। इसमें क्रूर निर्मम धर्म पर निश्छल सहज जीवन की विजय को अद्भुत शिल्प के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी से डा० लाल को छद्म धर्म के भय, जीवन

की क्रूर कृत्रिमताओं औ
यह संदेश कि "इस खूबस
तथा "जीवन को बांधने
डा० लाल का नैतिक दृ
रनी' पर आधारित है।
अन्याय, दबावों व तनाव
प्रवृत्ति का स्थापक बिंदु

उपर्युक्त मानसि
की संगति भी विचारणी

पहले उनके आ
में विश्वास नहीं करते।
वे 'रिलैक्स्ड' दृष्टिवाले
देखनी है, मैंने इसमें बच
एक है। मैं उसकी आल
और दिखाता हूं। आल
है। जीवन एक कथा है,
कहानी के रूप में जीव
आक्रांत न होकर सहज,

जीवन की विरा
सकना। साहित्य की पु
जीवन की प्रासंगिकता
प्रिटेंशन' और प्रस्तुतीकर
का किस दृष्टिकोण से
असली मुद्दा यह है। इस
भी है। जहां तक दृष्टि
'पारिवारिक निष्ठा वाल
साहित्यकार' कहते हैं।[2]
और उनके नएपन को
पर इलाचंद्र जोशी को '
देहाती मिट्टी को जी जान
की गंध, उसके ऊपर लह
धूल-भरे जीवन में बिखरी
रंग इस सूटबूटधारी नाट

1, 2 लेखक से हुए साक्षात्का
3. 'लहर', अप्रैल 1964।

की क्रूर कृत्रिमताओं और कातर होकर आत्मघात करनेवालों के विरुद्ध, जीवन का यह संदेश कि "इस खूबसूरत जिंदगी को फिर से जिएं और इसे जीने लायक बनाएं" तथा "जीवन को बांधने वालों की भी मुक्ति की कामना करें"—सुनाई पड़ता है। डा० लाल का नैतिक दृष्टिकोण इस कहानी में आई नैतिकता और जीवन की 'आय-रनी' पर आधारित है। इस प्रकार उनके मानसिक व्यक्तित्व में भावुक आकर्षण तथा अन्याय, दबावों व तनावों से उतरकर उल्लासमय सहज जीवन की परिणति दिखाने की प्रवृत्ति का स्थापक बिंदु देखा जा सकता है।

उपर्युक्त मानसिकता के साथ डा० लाल के बौद्धिक आग्रहों एवं मान्यताओं की संगति भी विचारणीय है।

पहले उनके आग्रहों तथा मान्यताओं को देख लें। डा० लाल बौद्धिक लेखन में विश्वास नहीं करते। जो जीवन को बांटकर देखती है, उस बुद्धि को 'ट्रामेंड' करके वे 'रिलैक्स्ड' दृष्टिवाले द्रष्टा की भूमिका पसंद करते हैं। वे कहते हैं[1] 'बुद्धि बांटकर देखती है, मैंने इससे बचकर जीवन को बांटने की बजाय समग्रता में देखा है। जीवन एक है। मैं उसकी आलोक कणिकाएं या छवियां हीरे के कटावों के समान देखता हूं और दिखाता हूं। आलोचक या विचारक बनकर बौद्धिक लेखन करने में मुझे परहेज है। जीवन एक कथा है, जिसकी समुद्र जैसी विराटता से मैं कोई लहर उठाकर भी कहानी के रूप में जीवन ही देता हूं। इस संदर्भ में मैं पश्चिमी सिद्धांतवादिता से आक्रांत न होकर सहज, सरल, सरस और सत्य जीवन दिखाता हूं।'

जीवन की विराटता, अबाधता और विस्तार से किसी को इनकार नहीं हो सकता। साहित्य की पुरानी से पुरानी परिभाषा को लें या नई से नई, साहित्य और जीवन की प्रासंगिकता से भी सब सहमत हैं, लेकिन जीवन के यथार्थ का चयन, 'इंटर-प्रिटेशन' और प्रस्तुतीकरण करने में समस्या उठती है। जीवन के कौन-से यथार्थ पक्ष का किस दृष्टिकोण से क्या पर्यालोचन या साक्षात्कार किया/करवाया गया है, असली मुद्दा यह है। इसके साथ ही जीवनगत संदर्भों में लेखक की भूमिका का सवाल भी है। जहां तक दृष्टि की बात है, मनोवृत्ति की बात है, डा० लाल अपने आपको 'पारिवारिक निष्ठा वाला गृहस्थ, किसान स्वभाववाला देहाती और लोकदृष्टि वाला साहित्यकार' कहते हैं।[2] शायद इसी से रमेश बक्षी ने उन्हें 'ओरियंटलिस्ट' कथाकार और उनके लेखन को 'ओरियंटलिज्म' कहा था।[3] 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' के नाम पर इलाचंद्र जोशी को 'सभ्य नागरिक बनने का इच्छुक यह लेखक अपने व्यक्तित्व की देहाती मिट्टी को जी जान से प्यार' करनेवाला दिखाई दिया था तथा 'उस देहाती मिट्टी की गंध, उसके ऊपर लहलहानेवाली मुक्त हरियाली, उसके खेत, खलिहानों से जुड़े हुए धूल-भरे जीवन में बिखरी हुई मस्ती, रसमयता और चंचलता—इन सभी तत्त्वों के रंग इस सूटबूटधारी नाटककार और कथाकार के केवल भीतरी व्यक्तित्व में ही नहीं

1, 2. लेखक से हुए साक्षात्कार के आधार पर।
3. 'लहर', अप्रैल 1964।

घुले हुए हैं, वरन् उसके बाहरी व्यक्तित्व की ऊपरी कृत्रिमता में भी छिटके हुए दिखाई दे सकते हैं।'[1] ऐसा भी लगा था।

उपर्युक्त टिप्पणी से डा० लाल का प्रकट शहरीयत और भीतरी ग्रामीणता की द्वैतता समझी जा सकती है। वे शहर में आकर भी गांव या 'अवध के अंचल' से जुड़े हैं; शहर में रहते हैं तो 'गाँव की मिट्टी में उनके पांव जमे हैं'। अवध से उनकी 'रागात्मक संपृक्ति' है, वहां के अनेक अनुभवों से वे पर्याप्त समृद्ध हैं और इसीलिए प्रायः वहीं की कहानियां लिखते हैं। जो व्यक्ति शहर के परिवेश से छूटकर छोड़े हुए गांवों की अतीत स्मृतियों को कल्पना के सहारे पुनः जीना चाहता है उसकी कहानियों में तनाव, द्वंद्व, उत्तेजना के साक्षात्कार की बजाय मीठी स्मृतियों का 'नॉस्टैलजिया' और भावावेग ही तो होगा। अंचल के भाव-विश्वास, पर्व-त्योहार, लोकगीत और अभिव्यंजना-प्रतीक जहां डा० लाल की कहानियों की प्राणशक्ति हैं, वहीं वैचारिक धरातल पर एक प्रकार से कतराने और शहरी परिवेश से मानसिक पलायन करने की प्रवृत्ति भी उनमें पाई जाती है।

सोचा जा सकता है कि जो व्यक्ति गांव छोड़कर वर्षों हुए शहरों में रहने लगा, वह क्या केवल अपने 'नॉस्टैलजिक' स्वभाव के बल पर अंचल की अनुभूत प्रामाणिकता वाली कहानियां देता रह सकता है और घर देहात की मधुर स्मृतियों से कल्पनाशील सृजन की बजाय कौन-सा नया जीवन बोध जगा सकता है? लाल की रुचि और प्रवृत्ति तो अवध की आंचलिकता का ही सृजन करनेवाली है और खुद को वे अपनी आसक्ति से अलग हटकर लिखनेवाला कथाकार भी कहते हैं;[2] लेकिन दर्शन के आदर्श 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'[3] को कहानीकार के लिए सटीक लागू मानते हुए जब वे 'स्वधर्म' अर्थात् अपने (देहाती) सांस्कृतिक मूल्यों के लिए लिखते और समाज-परिवेश-परिस्थितियों से लड़कर नए जीवन को पाने का आग्रह करते हैं[4] तो वे अंतर्विरोध ग्रस्त प्रतीत होते हैं। अपनी रचनाओं में मानव, मानवीय प्रकृति, मानवीय कामनाओं को प्रस्तुत करने की सदाशयता वाले लाल साहब अपनी हर रचना के साथ टूटते और बनते हुए पूर्ण होना

---

1. 'नई कहानियां' जून 1964।
2, 3. लेखक से हुए साक्षात्कार के आधार पर।
4. "आधुनिक समय में मनुष्य व्यक्ति' हुआ है। उसकी अपनी निजी दुनिया, आत्म-संघर्ष तथा किसी और से न कह सकने वाला दुख-दर्द, सुख है। उसकी वही निजी, परम वैयक्तिक सामाजिक, आर्थिक, नैतिक दुनिया ही आधुनिक कहानी का रचना-संसार है। यह संसार भीड़ का है, पर है अकेलेपन के विरोध में। × × × आधुनिक कहानी इस युग, काल, समय, स्थिति की वह अकेली, निजी, परम वैयक्तिक आवाज है, शब्द है, दर्द है, निःशब्द शोर है, जो व्यक्ति व्यक्ति से नहीं कह पाता।"
'कथाभारती'—डा० लक्ष्मीनारायण लाल, भूमिका पृ० 3 और; भी दे० 'डाकू आए थे'—डा० लक्ष्मीनारायण लाल, भूमिका, पृ० 10-11

चाहते हैं।[1] यह इच्छा कोई असंगत भी नहीं लेकिन कहानियों की तरल गीतात्मक, रेशमी प्रवृत्ति तथा आकस्मिकता (सरप्राइज़ ऐलीमेंट) उन्हें कभी सौंदर्य मोह, कभी आदर्शवाद, कभी 'फैंटेसी' और कभी सरल निष्कर्षों की ओर मोड़ देती है। ऐसी स्थिति में उनकी अनेक ऐसी कहानियां सामने आती हैं जो किसी 'आइडिया' या आदर्श के इर्दगिर्द घूमती हुई उनके अपने ही बनाए हुए मानदंड ('कथा भारती,' भूमिका पृष्ठ 42) के अनुसार 'पुरानी' (या कृत्रिम) कहानियां हो जाती हैं। पुरानी कहानियां लिखकर वे नए कैसे होंगे ?

लाल पाठकों के साथ एक गाड़ी में बैठे हुए सहयात्री जैसा संबंध स्थापित करके प्रत्यक्ष समस्तरीयता या 'डाइरेक्ट को-रिलेशनशिप' की शैली अपनाते हैं। उनके कथनानुसार 'मैं आत्मीय धरातल से सत्य और अज्ञात की तलाश करता हूं।' अर्थात् 'आत्मप्रक्षेपक के स्थान पर संकेतकर्त्ता दिग्दर्शक बनता हूं।' 'जहां अन्य कहानीकार कहानी-शैली की सरगम ही ढूंढते रह जाते हैं, वहां मेरी कहानी की सरगम का 'स' पहली ही पंक्ति से लग जाता है।'[2] इस विचार का विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है कि डा० लाल का कहानी-शिल्प बड़ा सहज मंजा हुआ और सशक्त है, पर यह निष्कर्ष ठीक नहीं बैठेगा। अव्वल तो वे शिल्प को जीवन और कहानी से भिन्न मानते ही नहीं। वे कथ्य और शिल्प को अविभाज्य मानते हुए एक में से दूसरे का विकास स्वीकार करते हैं। दूसरे शिल्प चमत्कार की बजाय अगर कथानक या रूप (फार्म) शिथिल भी हो तो उन्हें परवाह नहीं।[3] तब यह कहना ज़्यादा सही होगा कि कथ्य की सही पहचान रखते हुए डा० लाल जीवन की जिन गहराइयों, सच्चाइयों व अनुभवों को कहानी में लाते हैं, उनके आधारभूत 'आइडियाज' अच्छे हैं लेकिन अपने भावजगत में रमते हुए वे शिल्प को भी भावाभिषिक्त रखते हैं और कहानी में जिस स्थल पर किसी अतिरिक्त मोह में या अपने भीतरी एकतंत्र के स्थान पर द्वैध भाव में आते हैं तो उसी आंतरिक आग्रहवश शिल्प की कमज़ोरी बर्दाश्त कर लेते हैं। लाल की भावुक प्रकृति एवं अपने छूटे हुए अंचल से रागात्मक संपृक्ति का शहरी जीवन के अकेलेपन, मूल्यहीनता और क्रूरता से संघर्ष होता है तो वे आंचलिक जीवन की अभिव्यक्ति में राहत (रिलैक्सेशन) पाते हैं।

नई सामाजिक चुनौती को स्वीकार करके जब यथार्थ जीवन के बुनियादी सवाल ईमानदारी से कहानियों में उठाए जाने लगे, जब समाज और व्यक्ति के संबंध की तलाश करके व्यक्ति की बाहरी और भीतरी पहचान विषय बनी, जब परिवेशगत चेतना के साथ छोटी-छोटी अनुभूतियों से कहानी संवेदनशील बनाई जाने लगी,

---

1. 'एक बूंद जल'—डा० लक्ष्मीनारायण लाल, भूमिका, पृ० 3
"और मैं अनुभव करता हूं कि मैं अपनी हर नई रचना के साथ थोड़ा टूटता हूं और उससे अधिक पूर्ण होता हूं। और दोनों की सह-अनुभूति से मुझे लगता है कि मैं अपनी रचना के साथ एक ऐसे जीवन की ओर बढ़ता हूं, जो मुझे अभी तक अज्ञात था।"

2, 3, लेखक से साक्षात्कार के आधार पर।

जब कल्पना के स्थान पर अनुभव और अनुभूति को महत्त्व दिया गया तब हिंदी कहानी की प्रकृति और स्वरूप बदल गए। उसने 'कटे-छटे कथानक, सजग घटनाएं और भटके-दार नाटकीय अंत न रहे।' 'बात-विशेष या चरित्रविशेष के इर्द-गिर्द कथानक का जाल न रहा।' 'रंगीन वर्णन या कला की कलाबाजी समाप्त हो गई।' 'जीवन का कोई जिंदा टुकड़ा ही सहज कला से गढ़कर सामने रखा जाने लगा जिससे कहानी जीवंत ठोस और मशक्त बनी। उसमें जीवन-कथा को 'कहने' वाले सभी तत्त्वों—कथा, लोकतत्त्व, संस्मरण, विश्लेषण, अनुभव, व्यंग्य, प्रतीक, बिंब और संकेत—का समन्वय हो गया। इससे कहानी का रचनाशिल्प अंतर्मुखी, संश्लिष्ट और सांकेतिक होने से जहां एक ओर अधिक कलात्मक हुआ, वहां अस्पष्ट और दुरूह भी हुआ। कथाकार के वर्णनात्मक अनुशासन और पूर्वकल्पित सांचे से छूटकर कहानी वक्तापात्र के मुख से सहज प्रत्यक्ष आने लगी अथवा लेखक के निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण से छनकर पारदर्शी, स्वच्छ और साफ। इसमें भाषा का मंजाव, बारीकी और शैली की अंतर्गुहना भी दिखाई दी। ऐसे समय में डा० लक्ष्मीनारायण लाल भी इस धारा के साथ चलकर कहानियां लिखते हुए आगे आए।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कहानियों के क्षेत्र में आने वाले डा० लाल का पहला संग्रह—'सूने अंगन रस बरसै'—उनकी संभावनाओं को रेखांकित करता है। संग्रह की चौदहों कहानियां तो अच्छी नहीं कही जा सकतीं और ऐसा होना किसी भी लेखक के लिए संभव नहीं; लेकिन नए भावबोध के साथ यथार्थ की नई दृष्टि से व्याख्या का प्रयत्न इसमें दिखाई पड़ता है। यद्यपि डा० लाल में रोमांटिक भावुकता है जो 'सूने अंगन रस बरसै' में दो परिवारों की फौजदारी को आदर्श समझौते में बदल देती है, 'सफेद हाथी' में राजाश्रय-वंचित गायक को भावुकतापूर्ण क्षणों में भूतपूर्व आश्रयदाता के ही अपने ही हाथों से मारे गए सफेद हाथी (प्रतीकार्थ में भी ?) के सामने संगीत-साधना के लिए भूखों मरकर भी आते रहने की प्रतिज्ञा करवाती है और 'सूर्य के लाल नयन' में विरही के संयोग सुखों को रेखांकित करती है। डा० लाल में आदर्श-वाद के प्रति संस्कारगत मोह भी है जिसे इसी संग्रह की अनेक कहानियों में तोड़ने की कोशिश भी सफलता से हुई है, लेकिन उनका दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। संग्रह का रचना संसार प्रायः आंचलिक है, लेकिन गांव से शहरी में आए लेखक ने शहरी जीवन को भी लिया है। 'विद्या दीदी,' 'टूटता हुआ पुल,' 'घर के चूहे,' 'बसंतप्रिया' और 'सूर्य के लाल नयन' ऐसे ही जीवन की कहानियां हैं। शिल्प की दृष्टि से डा० लाल अभी सीधे कालक्रम का कथानक-विकास बनाते हैं जिसमें या तो स्वप्न-तत्त्व हावी है—'टूटता हुआ पुल,' 'बसंत-प्रिया' और 'घर के चूहे' में—अथवा 'बलात् अंत' करने का आग्रह—'विद्यादीदी,' 'टूटता हुआ पुल' और 'वही चांद और कांटे' में। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में कथातत्त्व पर्याप्त है सिवाय 'सूरजकुंड की हिरनी' और 'तालाब का घाव' के, जिनकी फैंटेसी और रहस्य उन्हें अत्यंत अस्पष्ट और गूढ़ बना देता है। लेखक ने बहुधा प्रतीक का आश्रय लेकर अपनी बात कहनी चाही है यथा 'सूरजकुंड की हिरनी'

'लोमड़ी', 'द्रौपदी,' 'टूटता हुआ पुल,' 'सफ़ेद हाथी' और 'घर के चूहे' कहानियां हैं अथवा कवित्वपूर्ण भावुक होकर जैसे 'सूने अंगन रस बरसै,' 'सियार पूजा,' 'बसंत प्रिया,' 'वही चांद और कांटे,' 'तालाब का घाव' और 'सूर्य के लाल नयन' कहानियां हैं। डा० लाल का 'फोकस' नारी चरित्र है जिसकी सुहृदता, प्रेम, विद्रोह, अतृप्ति, असहायता, विवशता, दयनीयता और ममता ध्यान आकर्षित करती है। अनेक कारणों से इस संग्रह की तीन कहानियां उल्लेखनीय हैं---'द्रौपदी,' 'टूटता हुआ पुल' तथा 'वही चांद और कांटे।'

'द्रौपदी' नारी चरित्र की कहानी है, पर उसका सारा प्रभाव गांव विशेष की विचित्र स्थिति में फंसी हुई नारी होने के कारण है। 'द्रौपदी' का प्रतीक भी अच्छा उभरा है और पाठक प्रकटतः लड़ैता एवं पूरन के हास्य-व्यंग्यमय संघर्ष की तह में से जब गांव के परिचय रूपी अनावरण के द्वारा द्रौपदी के जीवन की कहानी की दूसरी तह में उतारा जाता है तो पाठक वहीं रहना चाहता है और लेखक ने पाठक के सामने द्रौपदी की करुण भावुकता का प्रसंग देकर वहीं कहानी का अंत भी किया है। 'फ्लैश बैक' के प्रत्यावर्त्तन के रूप में वह लौटाकर लड़ैता या चिबिल्ला बाबा पर कहानी को नहीं लाता। यहां आंचलिक भाषा और एक लोकगीत कहानी के वातावरण, स्वभाव और प्रभाव की वृद्धि करने वाले हैं। डा० लाल की भावुकता वातावरण, चरित्र-चित्रण और आइडिया पर हावी न होकर सारी कहानी में भाव-प्रवणता बनकर समाई हुई है। लड़ैता, पूरन बाबा, बुढ़ऊ भगत, पूरन के भांजे कड़आ और गादुर, शीतला पंडिन, फलई, बहोरी, सुखई और दुखई इन अनेक पात्रों के प्रासंगिक परिचयों की भीड़ में भी द्रौपदी का चरित्र अलग ही संवेदना जगाने वाला है। चाहे ऐसी नियति सभी नारियों की नहीं होती और इस अर्थ में यह असाधारण परिस्थितियों में पड़ी हुई विशिष्ट स्त्री की कहानी ही कही जाएगी, लेकिन उसकी करुण संवेदना मन को छूने वाली है।

उखड़े हुए दांपत्य की कहानी 'वही चांद और कांटे' भी है। इसमें लेखक ने मनपसंद वर न मिलने पर बड़े-बड़े अरमान संजोने वाली एक लड़की की दुविधा दिखाई है जिसको अपने जीजा जैसा पति नहीं मिला पर वह विवाहिता होकर भी उसमें मिलने को तड़पती है। कहानी का प्रारंभ एक असाधारण गांव और उसकी अभागी लड़कियों के परिचय से होता है जिसमें दो बहनों में से एक को आदर्श पति और दूसरी को वैसा ही वर पाने की तीव्र लालसा दिखाई जाती है। कहानी में इस लालसा को गहराने के लिए अल्हड़ बाली का अपने जीजा के साथ रूमानी नौका विहार बड़े विस्तार से रखा गया है। आगे इसी बाली के लिए करुण वैषम्य के दो छोर हैं। एक तो उसका जीजा विधुर है और वह स्वयं एक औसत व्यक्ति की पत्नी। जीजा-साली का मिलन दिखाने के लिए लेखक बाली के पति को आदर्श पत्नीव्रती बनाकर तार दिलवा देता है और हस्पताल में मरणासन्न बाली जब जीजा को देखती है तो भी उसे धोखे में रखकर यही बताया जाता है कि बाबू वंशीधर स्वयं आए हैं। कहानी का अंत आकस्मिक है कि साली जीजा को पाकर छोड़ती नहीं और वह उसे सोई हुई छोड़कर जाने कब कहां चला जाता है। अच्छा पति पाने की साध हर लड़की की होती है और न पाने पर कुंठा, मान-

सिक रोग और स्वप्नादर्श से भावुक अनुराग भी। इतने अंशों में बाली का मनोविज्ञान सही है और संवेदनपूर्ण भी, लेकिन कहानी के सारे 'पैचेज' इसे 'जस्टीफाई' नहीं करते। बाली की तड़प और आकांक्षाएं कहानी के कतिपय विवरणों और बाली के जीजा वाले प्रसंगों को छोड़कर अधिक गहरा प्रभाव छोड़ सकती थीं।

लाल के दूसरे संग्रह 'नए स्वर की नई रेखाएं' में आठ कहानियां हैं जिनमें से नारी-चरित्र वाली कहानियां अधिक संवेदनशील हैं। एक तरह से यह संग्रह, नारी-चरित्र प्रधान आंचलिक कहानियों का है। इन कहानियों में लेखक का व्यंग्य, संवेदन और इनका रचाव पहले से प्रौढ़ है। यद्यपि एक कहानी 'गुमशुदा की तलाश' बड़ी हलकी और प्रायः घटनाश्रित है जिसमें आकस्मिक मोड़, फिल्मों जैसी भागदौड़ और अतिनाटकीयता ही नहीं, आदर्शवादी हृदय परिवर्तन भी है, लेकिन 'गौरा पार्वती' और 'सुंदरी' दो अच्छी कहानियां भी हैं। इनके अतिरिक्त 'मधुबन की मुरलिया' में एक नीच चमारिन की आदर्श मैत्री, मातृत्व और नारीत्व आंचलिक संदर्भ में करुणा और सहानुभूति से भरा है। 'इन कुत्तों को मारो' में अंग्रेजीयत पर व्यंग्य और पशु संवेदन है। 'हनुमान स्वामी' में भोले धर्म-विश्वासी ब्राह्मण और अतृप्त विश्वासघातिनी ब्राह्मणी का त्रिया-चरित्र खूब नाटकीय व्यंग्य लिए है। विन्यास की दृष्टि से लगभग सभी कहानियों के अंत में चरम प्रभाव या नाटकीयता की सृष्टि अवश्य की गई है।

'गौरा पार्वती' एक बिंदु पर रुकी और ऊबी हुई नारी की कहानी है। कथा तो संक्षेप में यह है कि एक अधेड़, समृद्ध, डाक्टरनी के लिए योग्य वर नहीं मिलता तो उसकी मां गुरु बाबा का बताया हुआ वह गौरी व्रत रखती है जो पार्वती ने शिव को पाने के लिए रखा था, लेकिन इस संदर्भ में उस नई गौरा पार्वती ने व्रत, प्रेम और विवाह प्रस्ताव करके भी वर नहीं पाया (यानी उससे विवाह न कर सकी) तो अखबार में विज्ञापन देने चली और दादी-मां संस्कारवश स्वीकार न कर सकी। कालक्रम के कथा-नक विकास के विपरीत इस कहानी के संश्लिष्ट शिल्प में कई परतें हैं और उनके भीतर से फूटे या फूटते हुए अनेक शाखा-सूत्र हैं। यह एक डाक्टरनी की होकर भी अनेक अन्य लोगों की कहानी है जो बड़े कौशल से एक शिल्प में गूंथी हुई है। ज्यों-ज्यों कहानी आगे चलती है तो उसमें से एक-एक परत खुलती या शाखा फूटती जाती है। प्रारंभ डा० सावित्री की मां द्वारा रखे गौरीव्रत से और उसके दादी मां द्वारा किए विरोध से होता है जिसमें रूढ़िवादी एवं संस्कारग्रस्त दादी तथा मां की कहानी भी है और कन्या से लड़की बनकर औरत बनने की इंतज़ार करती हुई सावित्री की असफलता की भी। डाक्टर सावित्री के पास अपनी और मां की इच्छा-पूर्ति के लिए व्रत के स्थान पर आधु-निक उपाय है विज्ञापन, लेकिन उसके स्वीकार न किए जाने के तनाव पर आकर कहानी खड़ी है इस झूठे आश्वासन में कि सावित्री को वर अवश्य मिलेगा।

यहां रुकी हुई कहानी को आगे बढ़ाने के लिए अतीतबोध कराया जाता है—ऐसे रिश्तेदारों के असफल प्रयत्न की स्मृति रूप में जो वर खोजते रहे थे। ऐसे 'वर' जो समय-समय पर प्रस्तावित हुए थे। उनकी 'आयरनी' कहानी को मोड़ती रोकती है तो

लेखक फ्लैशबैक से सावित्री की कार के साथ कहानी भी मोड़ देता है। अब डा० सतीनाथ श्रीवास्तव और डा० सावित्री का कई साल पहले का संबंध और प्रेम प्रसंग लाया जाता है। सावित्री को वर मिल गया था; वह उसे चाहने लगी थी; वह संस्कार-वश व्रत भी रखने लगी थी; वह व्यस्त यांत्रिक जीवन से गहरे जीवन की भावना पर आ गई थी कि इस कहानी में सतीनाथ और ममता की प्रेम कहानी की शाखा फूटी जो फ्लैश-बैक में एक कदम और पीछे लौट गई। इस शाखा की एक और शाखा थी सतीनाथ की बहन सुजाता और उस पर मरने वाले ममता के भाई उमादत्त के प्रेम (?) की। इन शाखाओं का ट्रेजिक अंत दिखाकर ज्योंही सतीनाथ सावित्री की कहानी चलने लगती है तो सावित्री-सतीनाथ का नाम पौराणिक संदर्भ में द्वयर्थक और बाधक ही नहीं सावित्री और गोपीकृष्ण का प्रेमसंबंध नया फ्लैशबैक बनकर शाखा जैसा फूट पड़ता है। इसके बाद सावित्री सतीनाथ संबंध की परीक्षा का अवसर दिए बगैर सतीनाथ की डायरी रखी जाती है। संबंध टूट जाता है, सावित्री चोट खाकर पहले टूटती है और फिर पहले जैसी इंतजार करती हुई घिसटने का संकेत कर जाती है।

इतना बहुसूत्रीय और पीछे से मुड़कर देखने वाला कथानक होने पर भी इस कहानी में संश्लिष्टता है। 'आयरनी' को बड़ी कलात्मकता से रचा गया है और सारी कहानी करुण संवेदना वाली होने पर भी भावुकता के आग्रह से बची हुई है। चुना लेखक ने यहां भी असाधारण नारी चरित्र ही है, पर उसका नयापन नए के आग्रह से नहीं आया है। स्थिति और चरित्र को वातावरण से जोड़कर देखने का भी यहां सफल उप-क्रम हुआ है। वातावरण का प्राकृतिक पक्ष हो या मानसिक, प्रत्यक्ष चित्रों या प्रतीकों के द्वारा लेखक ने कहानी का अर्थ गहरा और संप्रेषणीय कर दिया है। आर्किड-घर के फूल-पौधे, गमले और पार्लर, मालती की लता और बुलबुलों का जोड़ा, धवल बादल, चांदनी, रातरानी और यूकिलप्टस—इन सबका यथास्थान सार्थक उपयोग हुआ है। निर्जन वन में भटकी तितली, कार की रोशनी में उड़ते कीड़े, मालती पर बुलबुलों का घोंसला बनना और उजड़ना और सबसे बढ़कर गौरा-पार्वती के प्रतीक कहानी की शैली को सांकेतिक, अनेकार्थगर्भित, अंतर्गूढ़ और व्यंजक बनाते हैं। इनसे और अन्यत्र वर्णन-विश्लेषण से भाषा की बारीक सफाई भी बनी है और साफ-सुथरापन भी, जिसमें किसी प्रकार का काव्यात्मक अतिरेक नहीं है। यदि लेखक ने डायरी वाली पद्धति से सतीनाथ के कनराने का और सावित्री की बुखार वाली अवस्था से मानसिक चोट खाने का कृत्रिम उपाय न अपनाया होता तो शायद अंत अधिक संयत और कलात्मक होता। इससे कहानी की प्रभावान्विति थोड़ी अतिनाटकीय हो गई है। फ्लैशबैक का प्रत्यावर्तन न करके कहानी को अतीत में ही छोड़ देना संयत प्रयोग है। केवल कथाविन्यास की ही दृष्टि से देखें तो डा० लाल के कहानी साहित्य में इस कहानी का विशिष्ट स्थान है। प्रतीकात्मकता सारी कहानी का प्राणतत्त्व है जो पार्वती और सावित्री के वैषम्य को साफ-साफ प्रस्तुत करती है और 'द्रौपदी' के समान सटीक होकर कई अर्थ देती है।

इसी संग्रह की अंतिम कहानी 'सुंदरी' उपर्युक्त कहानी से भिन्न शिल्प, परिवेश

और भावात्मक दृष्टिकोण वाली होने पर भी उल्लेखनीय है। यह एक ऐसी अहीर सुंदरी की व्यथाकथा है जो अल्पायु के पति को छोड़कर एक कुर्मी के साथ भाग गई थी लेकिन अपने सौंदर्य को रसिक समाज से कैसे बचाती, अतः नए पति के संदेह या खीझ के कारण मार खाती हुई अंत में विकट परिस्थितियों में मर जाती है। कहानी सीधे ऐसी सूचना से शुरू होती है जिसमें एक ग्रामीण अपना गांव छोड़कर सपरिवार दरिद्रता झेलने को प्रकृति की गोद में आ जाता है। करुणा बढ़ाने के लिए उसके द्वारा अपनी पत्नी को मारने की सूचना भी दी जाती है और आगे भयानक दरिद्रता की परिस्थिति का चित्रण है। प्रकृति का मनहूस वातावरण, उसमें दीन दरिद्र परिवार और ऊपर से क्रूर पति का पत्नी को पीटना—खासी भावुकता का प्रसंग है पर लेखक निर्मम बना हुआ विषाद को स्थापित कर देता है। आगे अतीत से जोड़ने के लिए समुन्नरी के अनिंद्य रूप, उस पर ठाकुर की बुरी नजर पड़ना, लोगों का दसई को छेड़ना और दसई का पत्नी की तरफदारी करना दिखाया जाता है जिससे चरित्र की विडंबना का सूत्रपात होता है। समुन्नरी के रूप के कारण दसई गांव पर गांव छोड़ता जाता है। वह उसके छह बच्चों की मां है पर दसई कलजुगी रसिकों के कारण पत्नी को मार-मारकर बदसूरत करता है। समुन्नरी इस पर भी अटूट सुंदरी बनी रहती है। उनकी नई परिस्थिति का एक दिन का चित्र देकर और प्राकृतिक वातावरण का आंचलिक परिवेश बनाकर लेखक काव्यात्मक कल्पना से एक ऐसा आकाश बनाता है जिसमें भावना और स्मृति के माध्यम से फ्लैशबैक का नाटकीयता होती है। यहां शैली भी बदलती है। अब लेखक हट जाता है और समुन्नरी बोलने लगती है। अतीत का भावुक स्मरण और आंचलिक लोकगीत से समुन्नरी के घर से भागने की कथा का वर्तमान में पुनः लौटना वैसे ही है जैसे पहले अतीत की ओर था। यहां करुणा गहरी है क्योंकि सूचनानुसार समुन्नरी के छह में से दो बच्चे ही जीवित हैं। अब लेखक पुनः आगे आता है और 'फ्लैशबैक' से समुन्नरी के चार बच्चों के मरने और दसई द्वारा पीटे जाने की करुणा जगाता है। कहानी पुनः उसी परिस्थिति में लौटाई जाती है। उस रात को भयानक वर्षा और उससे समुन्नरी के दरिद्रतर होने की ट्रैजडी आगे का हिस्सा है। समुन्नरी बुरी तरह से भीगी भी है, लेकिन लेखक और आगे जाकर ऐसी परिस्थिति बनाता है जिसमें लोगों की छेड़छाड़ से चिढ़ा हुआ शक्की दसई घर लौटकर ज्वराक्रांत समुन्नरी को गालियां देने लगता है। ठाकुर के किसी काल्पनिक उपहार को ढूंढने के लिए वह उसके दरिद्र बक्स की तलाशी लेता है और हार-थककर बैठा हुआ सोचता है। लेखक ने सोचने को विषय दे दिया है कि समुन्नरी के ताला लगे बक्स में से काजल, सिंदूर और टिकुली निकली है। दसई और आगे शक नहीं करता पर शक करने को बचा ही क्या है? समुन्नरी इन सब कारणों से भीतर से टूट ही चुकी है, बुखार से और टूट जाती है और तब दसई की दवादारू बेकार हो जाती है। कहानी का अंत बहुत भावुकतापूर्ण है। समुन्नरी अपनी लड़की को टिकुली लगाकर उसकी शादी के लिए अग्रिम उपहार देती और मर जाती है। यहां लेखक

उसकी ओर से वकालत करता और उसे दसई के खयालों में लाकर विश्वास करने की भीख मांगते दिखाता है।

लाल के तीसरे कहानी-संग्रह 'एक बूंद जल' में नौ कहानियां हैं जिनमें से अधिकांश फिर नारी की व्यथा कथा ही कहती हैं। शहर और गांव की मिली-जुली इन कहानियों में से अनेक ध्यानाकर्षण करती हैं। 'हेमंत ऋतु' नामानुसार ही ठंडे और उजाड़ संबंधों की कहानी है जिसमें लेखक वाचक-पात्र बनकर प्रेम और दांपत्य की विसंगति तथा विद्रूपता दिखाता है। नपुंसकता की हद तक ठंडा और उदासीन पति अपने सामने पत्नी का उग्र विद्रोही स्वैराचार देखता खड़ा रहता है। अपनी कमजोरियों के बावजूद इस कहानी का यथार्थ परिवेश, शहरी जीवन का ठंडा 'पतझड़पन' और मालकिन के कुत्ते के रूप में जंजीर बंधा वैवाहिक संबंध एक हद तक प्रभावशाली है। 'रेलगाड़ी' में यांत्रिक और नैतिकताहीन शहरी सभ्यता की प्रतीक रेलगाड़ी भारत के प्रतीक सूरापुर गांव में जब आती है तो आधुनिक व्यवस्था की सारी बुराइयां, भ्रष्टाचार और व्यक्तित्वहीनता के द्वारा खजांचीराम जैसी अकेली मानवीय चीख को शोर में डुबा देती है। कहानी के 'ट्रीटमेंट' में लेखक का संस्कारगत आदर्शवाद छिप नहीं पाया है। 'बिंदो भाभी' में एक मातृत्व की भूखी, पति-प्रताड़िता और बाद में अकाल-विधवा नारी के व्यभिचार (?) से गर्भ धारण करने पर उसके देवर द्वारा प्रसवार्थ अन्यत्र अपने मित्र के घर ले जाने, झूठ बोलकर रखने और प्रसूता को अपने ही हाथों से नवजात शिशु को मारने के लिए प्रेरित किए जाने की करुण कहानी है। कहानी के प्रारंभ से ही बिंदो भाभी की जड़ सहनशीलता और पशुवत् आज्ञाकारिता का निर्मम यथार्थ, भावुकतापूर्ण होने पर भी करुण-संवेदन जगाता है और अंत में बिंदो का मातृत्व के आदर्श के लिए बच्चे को न मारकर खुद मर जाना पुरानापन लिए हुए होने पर भी नारी को गलत समझे जाने का करुण यथार्थ प्रस्तुत करता है। 'दर्पन कथा', 'राम जानकी रोड' और पुस्तक की 'टाइटिल' कहानी 'एक बूंद जल' साधारण हैं। 'मछली रे तू सूखती क्यों नहीं' में एक लोककथा का प्रासंगिक प्रतीक लेकर एक अत्यंत कुरूप लड़की की कहानी वाचक पात्र द्वारा संस्मरण शैली में पुराने 'क्रोनॉलोजिकल' क्रम में जोड़ी गई है। कतिपय अंशों में कोइलीदीदी जैसी कुरूपा का बाहर से विचित्र विकृत-कठोर और भीतर से स्नेहार्द्र चरित्र संवेदना जगाने वाला है। कहानी का अंत सुखद होने से प्रभाव क्षीण हुआ है। 'प्रेमपत्र' असफल प्रेम और प्रेम-पिपासा की कहानी है जिसमें होस्टल जीवन के हास्य-उल्लास के बीच एक अद्भुत नारी-चरित्र गढ़ा गया है जो प्रेमपत्र पाने को लालायित होकर अपने झूठे प्रेम की सचाई का ढिंढोरा पीटती फिरती है। कहानी का सारा आग्रह होस्टल-वार्डन मिस गुप्ता के इस मंतव्य में है कि औरत अकेली नहीं रह सकती और उसे जीने के लिए कोई न कोई बहाना चाहिए ही चाहिए।

यहां विस्तार से 'सरजू तट का पपीहा' कहानी की चर्चा करना ही जरूरी प्रतीत होता है। मुझे यह कहानी लाल के कहानीकार का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत

होती है। इसकी प्रतीकात्मकता, आंचलिकता, रूमानियत, रहस्यात्मकता, भावुकता, करुणा, नारी-चरित्र की विडंबना और कहानी कहने की 'सेंस ऑफ पास्टनेस' (अतीत बोध) वाली शैली डा० लाल को एक 'आइडेंटिटी' (वैशिष्ट्य) प्रदान करती है। पहले की और बाद की सब कहानियां कुल मिलाकर इससे आगे नहीं जा पातीं। अपनी खूबियों और कमजोरियों के साथ यह डा० लाल की पूरी पहचान कराती है। कहानी का प्रारंभ एक विचित्र नेउर बाबा और स्थान के संस्मरण से होता है, इसी से वाचक अतीत बोध कराने लगता है। पीछे की घटनाएं और वर्तमान से वैषम्य ऐतिहासिक शैली और आंचलिक संबोधनों से संकेतित करके सरजू नदी और उस पर रहने का प्रतीक बनाया जाता है। बीच में पपीहे की ध्वनि से प्रतीक को बिंब रूप में पूरा कर दिया जाता है और इस वातावरण में नेउर बाबा के मुंह से सुनी हुई रघुवीर भइया की कहानी को वाचक सुनाने लगता है। कहानी को संवाद और अनुभवजन्य उक्तियों से समीप लाया जाता है। रघुवीर और उसकी पत्नी का विवाह और गौना, गौने में रघुवीर की रसिकता, सुहागरात से पूर्व परिस्थितिगत और चरित्रगत वैषम्य से कहानी में दांपत्य की दरार वाला तनाव शुरू किया जाता है। आंचलिक गीत और गुलाबबहू की नाउन सखी के हास-परिहास से 'कॉमिक' तत्त्व रखकर पति-पत्नी का मिलन बनाया जाता है जो संयोग से पहले ही वियोग में बदल जाता है। और कहानी के इस प्रसंग की अतीतता अट्ठारह वर्ष पहले की कही जाती है। इस अंतराल को भरने और पाठक की उत्सुकता शमन करने के लिए लेखक दंपती के अलगाव, स्वाभिमानी स्वभाव और अन्य प्रासंगिक पात्रों को लाता है। दंपती में मध्यस्थ पात्र है लजाधुर, जो एक ओर रघुवीर के विलास-व्यभिचार का साक्षी है तो दूसरी ओर गुलाब बहू की सतीत्व वाली भस्मक अग्नि का। पर वह कुछ कर नहीं पाता और यही करुणा है। रघुवीर की बेश्याएं और रखैलें, रघुवीर को भ्रष्टाचार और पौरुषेय अत्याचार तथा इसके विरुद्ध तड़पती पर तनी हुई गुलाब की कहानी खासी निर्मम पीड़ा भरती है। बीच-बीच में लजाधुर की भाभी के प्रति सहानुभूति करुणा को और गहरा करती रहती है। कुछ दिन के लिए गुलाब का सौत (?) सोनपत्ती के शिशु से वात्सल्य पाठक को उसका और हमदर्द बना जाता है। सरजू रूपी विध्वंसक समय, पपीहा रूपी विरहिणी की आर्त्त पुकार, गुलाब रूपी कगार और रघुवीर के अभिमान का प्रतीक बखरी—अंत में सबको सरजू ले जाती है।

कहानी के कलात्मक अनुभव आंचलिक भाषा के सशक्त प्रवाह में प्रभावशाली है। गजब्बो, रूमाली, हीरा, सोनपत्ती जैसी रखैलों, गुंगिया दासी, अजिया ससुर, लजाधुर भाई और अन्य अनेक पात्रों के शाखासूत्र फूटकर विन्यास की जटिलता प्रस्तुत करते हैं, लेकिन कहानी की तरल भावधारा सबका संश्लेषण कर लेती है। विपर्यय, भटकाव और प्रतीक होने पर भी कहानी का केंद्रीय बिंदु नुकीला होकर गड़ता रहता है। कहानी में विवाह की 'आयरनी' (विडंबना) की स्वाभाविक पकड़ है और है सफल संप्रेषण। यह कहानी पठनीय गुण से युक्त, श्रेष्ठ सांकेतिक और आंचलिक कहानी है। मुरादरपुर

का वातावरण कहीं-कहीं कवित्वमय होकर भी कहानी का अंतःकरण बनता है और लेखक की भावप्रवणता यहां प्रतीक के द्वारा संयत रहती है। आगे की चर्चित कहानियों—जैसे 'थाना बेलूरगंज' से भी यह कहानी अच्छी है।

लाल के चौथे कहानी संग्रह 'एक और कहानी' की ग्यारह कहानियां पहले की कहानियों जैसी ही हैं। पर इस संग्रह की एक कहानी उल्लेखनीय है—'थाना बेलूरगंज'। यह 1963-64 में 'धर्मयुग' के 'एक कथादशक' में लाल के वक्तव्य के साथ छपी थी और 'दशक' के प्रतिनिधि कहानी-साहित्य में चर्चित हुई थी।

इस कहानी में व्यवस्था के बगुले भगतपन पर करारा व्यंग्य किया गया है। गली सड़ी समाज व्यवस्था और राजनीति के कर्णधार सरपंच, एम-एल० ए० और राजा साहब एक ईमानदार थानेदार को कर्तव्य पूरा नहीं करने देते। उनके निहित स्वार्थ हैं। शांति और व्यवस्था के संरक्षक वे स्वयं बनना और निर्द्वंद्व अपराध करना-कराना चाहते हैं। कहानी में बेलूरगंज के थाने के बीचोंबीच एक पाकड़ का बड़ा पेड़ दिखाया गया है जो भ्रष्टाचार का प्रतीक है और जिसकी जड़ें व शाखाएं बहुत फैली हुई हैं। इस पर ढीठ बगुलों ने घोंसले बना लिए हैं जो समाज और राजनीति के ठेकेदार बगुलों भगतों के प्रतीक हैं। थानेदार पर इनकी बीट रूपी भ्रष्टाचार गिरता है तो वह एक बार बंदूक के फायरों से इन्हें भगा भी देता है पर कहानी के अंत में उसकी असमर्थता को चुनौती देते हुए असंख्य बगुले फिर आ जाते हैं। पूरे संगठित भ्रष्टतंत्र के विरुद्ध एक अकेली बंदूक कर भी क्या सकती है फिर जबकि पाकड़ (पकड़ने वाला पंजा) भी वहां जमा खड़ा है।

कहानी का प्रारंभ बेलूरगंज थाने की आलीशान बिल्डिंग के चित्र और परिवेश के परिचय से होता है। स्थान की ऐतिहासिकता को अतीत की राजनीतिक घटना से जोड़ा गया है। फिर बगुले, पाकड़ और थानेदार हरिमाधव द्वारा इन्हें भगाने का प्रसंग है। बगुलों का वहां बैठने का इतिहास थाने की बदनामी का इतिहास है जिसका साक्षी एक लंगड़भूज व्यक्ति है जो 'मरजू तट का पपीहा' के नेउर बाबा जैसा है। उसी से सुनी हुई कहानी को लेखक हरिमाधव के चरित्र, साहस और कार्य के रूप में सुनाता है। बगुला प्रतीकों के छितराने, बौखलाने और पुनः लौटकर शक्ति-संग्रह का उपक्रम, गांवों के परिचय के माध्यम से दिया जाता है। आगे कहानी में रोमांटिक तत्त्व आ जाता है जो अंत में ट्रैजडी बन जाता है। अपराधियों पर थानेदार का दमन और प्रेरित अपराध दोनों के द्वारा लेखक थानेदारी का स्वरूप समझाते हुए भ्रष्टाचारियों का टूटता हुआ खेमा दिखाता है। आगे वही रोमांटिक तत्त्व जो कुंअर गांव की कुंअरानी के व्यथापूर्ण गीत से शुरू होकर थानेदार से प्रच्छन्न प्रेम तक पहुंचा था, राजा साहब जैसे सामंत राजनीतिज्ञ के हथकंडे भी दिखाता है और कुंअरानी के प्रेम की हत्या भी। हरिमाधव और कुंअरानी का प्रेमप्रसंग कहानी की धार तोड़ने वाला है। फिर अकस्मात् कुंअरानी की हत्या भी थानेदार की हार को दिखाने का बहुत सफल आयोजन नहीं। कहानी का अंत नाटकीय है। हत्यारों को पकड़ने की बजाय ऊपर से केस दबाने

का आदेश हरिमाधव को हतप्रभ तो किए ही है, असंख्य बगुले आ-आकर पेड़ पर बैठते जाते हैं। हरिमाधव उन्हें गोलियों से मारता जाता है पर वे मर-मरकर थानेदार को खून से रंगते हुए भी ढीठ हैं जो मंडराकर पुनः पेड़ पर चले आते और बैठते जाते हैं।

यदि इस कहानी में से हरिमाधव और कुंअरानी का प्रेम-प्रसंग बचाया जाता तो कहानी का व्यंग्य पैना होता। कुंअरानी की वृद्ध से व्याहे जाने और राजा द्वारा 'एक्स्प्लायट' किए जाने की व्यथा-कथा भी मार्मिक तो है पर व्यंग्य में भावुकता का क्या स्थान ? वह व्यर्थ विस्तार है।

इस कहानी की प्रतिक्रिया में रमेश बक्षी ने लिखा था कि 'डा० लाल का 'ओरिएंटलिज्म' शक्ति और साफगोई है। उनकी यह कहानी पहली कहानियों से बेहतर है। बगुले का प्रतीक खूब उभरा है लेकिन पाकड़ पर बैठे बगुले कहानी की व्यर्थ विस्तृति में खो गए हैं'।[1] यहां व्यर्थ विस्तृति वाला आक्षेप तो ठीक है लेकिन बगुलों का प्रतीक ज्यादा बार सामने लाया जाने पर प्रभाव को नष्ट कर देता। वह कम होकर अधिक व्यंजक है। इसी संदर्भ में दुष्यंत कुमार की टिप्पणी भी विचारणीय है। उनके अनुसार 'यह कहानी रोचक तो है पर इसका रचना विधान स्वातंत्र्य पूर्व की कहानियों का है।'[2] पता नहीं स्वातंत्र्यपूर्व की कौन-सी कहानियों की ओर उनका संकेत है, लेकिन यह मानना संभव न होगा कि 'थाना बेलूरगंज' का रचना-विधान पुराना है। और रचना-विधान पुराना होना ही गुण या दोष नहीं हो जाता, जब तक उसमें लेखक की दृष्टि का संदर्भ न रखा जाए। कम से कम यहां डा० लाल की दृष्टि पुरानी नहीं है।

अवध प्रदेश के आंचलिक गीत, भाषा, पर्व, विश्वास और परिवेश आदि जो हैं सो लाल की प्रकृति के अंग हैं ही, प्रस्तुत संग्रह में लेखक को पक्षियों के प्रतीक या संदर्भ विशेष प्रिय रहे हैं। पक्षी प्रिय होने का कोई मनोवैज्ञानिक कारण होगा। शायद लेखक इससे अपने प्रदेश में काल्पनिक विहार करता होगा या शहरी ऊब और नीरसता से पलायन—मैं नहीं जानता। लेकिन मुआंचिरई की मुआं-मुआं, टुकटुइयां की टुक-टुक, कौए की कांव-कांव, क्रौंच की क्रों-क्रों कहानियों में गूंजती है। आंचलिकता के लिए 'ध्वनि प्रभाव' और तरह से भी लाए गए हैं। ढोलक, गीत, नाच, नौटंकी और नदियों का हहराना सब 'साउंड इफैक्ट' ही तो हैं।

लाल का पांचवां और अंतिम कहानी संग्रह है, 'डाकू आए थे'। इसमें नौ कहानियां हैं। और लगभग सभी साधारण हैं। पहली कहानी 'अश्वमेध का घोड़ा' और चौथी 'सीता वनवास' हलकी हैं। 'गुलबदन' कहानी में एक विचित्र नारी का चरित्र अंकित है जो कर्कशा, हठी और भयानक रूप से कुरूप है। वह पति की मार, उपेक्षा और धक्के सहकर भी साथ नहीं छोड़ती। उसकी उन्मुक्तता पति को बदल देती है।

1 'लहर'—अप्रैल, 1964।
2. 'धर्मयुग'—10-1-65।

चरित्र की नवीनता को छोड़कर कहानी यह भी साधारण है। 'नदी माई' में भी नारी चरित्र है। यह एक असाधारण बुढ़िया की कहानी है जो करखत और सखत जान होने के कारण तीन पुत्रों की भीरुता से आहत होकर आत्महत्या कर लेती है। बूढ़ों के चरित्र की असाधारणता इससे पूर्व डा० लाल ने 'पुलपुल बाबा,' सियार पूजा,' 'द्रौपदी' और 'बबलू' में दिखाई थी, लेकिन इस कहानी में चरित्र का रंग अधिक तीखा है। यों शिल्प वही प्रतीक वाला ही अपनाया गया है।

'पशुमेला' भी प्रतीकात्मक है और राजनीति व समाज व्यवस्था पर व्यंग्य करती है। शोषण और बंधुआ मजदूरी के विरुद्ध संवेदना जगाने वाली इस कहानी में मनुष्य को पशुओं के समान मेले से पसंद करके ले जाने और निकम्मा होने पर ताजा होने के लिए गांव में छोड़ने वाले महाजनों—रस्तोगी एंड कंपनी—(जिसकी महाजनी पद्धति का उल्लेख 'राम जानकी रोड' में भी है) का कटु यथार्थ, व्यंग्य और प्रतीक के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। व्यंग्य पैना है और प्रतीक भी ठीक बना है पर थीम पुरानी है। 'रामलीला' कहानी में राजनीतिक दांवपेंच और चुनाव जीतने के लिए किए गए फरेब का वर्णन है। इस रामलीला के प्रतीक में एक स्त्री का असली प्रेमी चुनाव जीतकर तो राम से रावण की भूमिका में आ जाता है और विश्वासघात करता है, लेकिन रावण जैसा सीता का याचक अंत में मनचाही उसी स्त्री को पा जाता है। राजनीतिज्ञों के भ्रष्ट तरीके, भावुक आदर्शवाद और यथार्थ की ठेस आदि एकदम वही पुराने फार्मूले हैं। टाइटिल कहानी 'डाकू आए थे' दांपत्य जीवन की विडंबना दिखाती है। पत्नी के शील की डाकुओं से रक्षा करने वाला पति जब घायल और फिर कैंसर ग्रस्त अपाहिज हो जाता है तो वह जीवन को जीने की लालसा से उसे छोड़ जाती है और किसी अन्य के साथ रहने लगती है। यह कहानी औरों से अच्छी है। एक बिंदु है पति द्वारा पत्नी के प्रति विश्वास का जो निरवधि प्रतीक्षा को जन्म देता है और इस बिंदु पर चौदह वर्ष के लिए ठहरी, ऊबी, पंगु और दयनीय ज़िंदगी को लेखक ने मार्मिकता से पकड़ा और अनुभव कराया है। दांपत्य जीवन की विडंबना और करुणा तथा पत्नीव्रती आदर्श की अंतहीन प्रतीक्षा को भावुकताहीन होकर दिखाया गया है। कहानी का अंत जरूर अतिनाटकीय और फारमूला पद्धति वाला है कि अपाहिज व्यक्ति पत्नी को पत्र से अपनी मृत्यु की झूठी सूचना देकर बुलवा लेता है। पत्नी नए प्रेमी के साथ आकर मानो मूक क्षमायाचना करती है और प्रेमी उसे डांटता है तो लेखक 'डाकू आए थे' शीर्षक को वहीं लेबल की तरह इन लोगों पर लगा देता है। कहानी के प्रारंभ में भी डाकुओं के आने और टूटकर चले जाने के बाद जिस फारेस्ट आफिसर को घायल और बाद में बांह और टांग कटवाने के लिए मजबूर करके फिर कैंसर ग्रस्त दिखाया जाता है, उसे अगर इस अतिवाद की बजाय सीधे ही कैंसर ग्रस्त अपाहिज और पत्नी द्वारा परित्यक्त दिखाया जाता तो अच्छा होता।

इस प्रकार लाल की इन अनेक साधारण कहानियों में कुछ निश्चय ही स्मरणीय कहानियां हैं। बहुत सारी कहानियां 'पठनीय' भी हैं। शायद किसी भी लेखक की सारी

कहानियां अच्छी नहीं होतीं, अच्छे से अच्छे लेखक की भी नहीं। तब डा० लाल की अनेक कहानियां स्मरणीय होना छोटी बात नहीं है। उनकी कहानियां सहज संवेदनीय और अकृत्रिम हैं, जिनमें नैतिक तथा सामाजिक क्रूरताओं के बीच जीवन को ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया है। नारी संबंधी कहानियों में उनकी व्यथा की प्रामाणिक अनुभूति है, जो किसी प्रकार के मताग्रह से मुक्त है। अंचल के जिस यथार्थ को डा० लाल ने भावनात्मक धरातल पर भी प्रस्तुत किया है, उसमें उनकी जीवंतता और गहराई से इंकार नहीं किया जा सकता। पर यह भी सही है कि उन्होंने शहरी जीवन की कुछ अच्छी कहानियां पूरी वस्तुनिष्ठ दृष्टि के साथ दी हैं। उनमें शिल्प का कोई आत्यंतिक मोह नहीं और न तो चौंकाने में रुचि है। वे फैशन के लिए नहीं लिखते—आंचलिक कहानियां हों या अन्य—वे जीवन को देखने और दिखाने के लिए लिखते हैं। और इस अर्थ में उनके पास समृद्ध अनुभव है जो वे लगातार लिखते हुए भी अभी तक रिक्त नहीं हुए हैं।

●●